वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 345
ISBN 978-93-82071-31-0

पण्डित श्री दौलतराम द्वारा रचित

छहढाला

(प्रश्नोत्तर सहित)

–मंगल आशीर्वाद एवं प्रेरणा –

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी

–हिन्दी अर्थ एवं प्रश्नोत्तर लेखिका –

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

परमपूज्य 105 समाधिस्थ आर्यिका श्री रत्नमती माताजी के 42वें
दीक्षादिवस-मगसिर कृ. तृतीया, 1 दिसम्बर 2012 के अवसर पर प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org, E-mail : jambudweeptirth@gmail.com
Facebook : jaintirthjambudweep

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2539, मगसिर कृ. 3	मूल्य
2200 प्रतियाँ	1 दिसम्बर 2012	24/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी
(दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: निर्देशक एवं सम्पादक:–

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

–: प्रबंध सम्पादक :–

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

पीठाधीश की कलम से.....

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में साहित्य सृजन की अविरल धारा को प्रवाहित करके जैनधर्म की अद्भुत प्रभावना की है तथा जैन साहित्य जगत पर भी अनंत उपकार किये हैं। विशेषरूप से आपकी लेखनी से प्रसूत पद्य साहित्य अर्थात् पूजा-विधान से जन-जन को अमोघ शस्त्र के रूप में भक्ति का मार्ग प्राप्त हुआ है।

पूज्य माताजी द्वारा लिखित साहित्य को सतत प्रकाशित करने के लिए पूज्य माताजी की ही पुण्य प्रेरणा से सन् १९७२ में स्थापित दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के अन्तर्गत वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला की भी स्थापना की गई, तब से लगातार इस ग्रंथमाला द्वारा साहित्य प्रकाशन का कार्य किया जा रहा है। जहाँ इस ग्रंथमाला ने लाखों श्रावकों एवं श्रद्धालु भक्तों को ज्ञान का लाभ प्रदान किया है, वहीं विशिष्ट एवं गुणवत्तापूर्ण प्रकाशन के माध्यम से इस ग्रंथमाला को भी समाज के मध्य एक विशिष्ट ख्याति प्राप्त हुई है।

इस ग्रंथमाला से जहाँ पूज्य माताजी द्वारा टीकाकृत षट्खण्डागम जैसे महान सिद्धान्त ग्रंथों तथा नियमसार, समयसार, गोम्मटसार, अष्टसहस्री, कातंत्र व्याकरण आदि जैसे मूल आगम ग्रंथों का प्रकाशन होता है, वहीं मुख्यतः पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी व प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा लिखित विभिन्न बड़े-छोटे पूजा-मण्डल विधान आदि का प्रकाशन भी समाज के लिए विशेष मांग हेतु बना रहता है। आज हम इस ग्रंथमाला को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानते हैं, जिसके माध्यम से प्रकाशित हो रहे सत् साहित्य का वर्ष भर पूरे ३६५ दिन भारत के कहीं न कहीं, किसी न किसी मंदिर में मण्डल विधान या साहित्य वितरण आदि के लिए मांग आती रहती है और जैनधर्म व भक्तिमार्ग की प्रभावना में यह ग्रंथमाला नित्य ही तत्पर रहती है।

विशेषरूप से इस ग्रंथमाला द्वारा समाज को लागत मूल्य से भी कम राशि पर साहित्य उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता है, जिससे कि सुविधापूर्वक जन-जन तक साहित्य पहुँच सके। आगे भी इसी प्रकार यह ग्रंथमाला अपना दायित्व निभाती रहे, यही भावना है। वर्तमान में प्रकाशित हो रही इस पुस्तक के माध्यम से आप सभी श्रावकजन विशेष धर्मलाभ को प्राप्त करें तथा जैनधर्म का यह ज्ञान आपके सम्यक्त्व को दृढ़ करने में सदा सहकारी बनकर मोक्षमार्ग को प्रशस्त करे, सभी भक्तों को मेरी यही शुभकामनाएं एवं मंगल आशीर्वाद है।

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

सम्पादकीय

-जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

जैन समाज में 'छहढाला' ग्रंथ अत्यधिक प्रसिद्ध है, प्रत्येक धार्मिक पाठशालाओं में छहढाला को विशेषरूप से पढ़ाया जाता है। इसमें क्रम-क्रम से नरक के दुःखों का, मनुष्यगति-तिर्यंचगति के दुःखों का सजीवता से वर्णन किया गया है, निगोद के अनन्तदुःखों को भी इसमें गर्भित किया गया है। मधुर स्वर से छहढाला पढ़ने से कर्णप्रिय तो लगता ही है, असंख्य कर्मों की निर्जरा भी होती है।

पिछले कई वर्षों से पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की यह इच्छा थी कि छहढाला में जो कुछ सैद्धांतिक त्रुटियाँ हैं उन्हें संशोधित करके प्रकाशित कराया जाए। इस पुस्तक में पूज्य आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने प्रत्येक ढाल के बाद उस ढाल से संबंधित प्रश्नोत्तर दिए हैं जिससे कि आबाल-गोपाल भी इसमें छिपे गूढ़ रहस्यों को आसानी से समझ सकें तथा पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने, जहाँ भी उन्हें त्रुटि महसूस हुई, उन्होंने अलग पंक्तियों की रचना कर दी है जिन्हें इसमें देकर स्पष्टरूप से यह लिख दिया गया है कि "ये पंक्तियाँ पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा संशोधित हैं" ताकि किसी को किसी प्रकार का विभ्रम न उत्पन्न हो सके, यहाँ मैं उदाहरण देना आवश्यक समझता हूँ—

द्वितीय ढाल के १४वें काव्य में कविवर लिखते हैं—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विधदेहदान।
आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे-जे करनी तन करन छीन।।१४।।

यहाँ पूज्य माताजी द्वारा द्वितीय पंक्ति संशोधित की गई है कि—

आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे-जे करनी शिवपथ विहीन।।

क्योंकि यह अर्थ सर्वथा संगत नहीं है। अनेक प्रकार के पंचाग्नि आदि तप मात्र शरीर को ही सुखाने वाले नहीं हैं अपितु सांसारिक सुखों को देने वाले हैं। हाँ! इतना अवश्य है कि ये कुतप मोक्षसुख को नहीं प्राप्त करा सकते हैं।

इसी प्रकार आगे की ढालों में भी संशोधन किया गया है ताकि पाठकगण जैनधर्म की सूक्ष्मता को समझ सकें।

पूज्य माताजी के हम सभी पर अनन्त उपकार हैं कि वे समय-समय पर जैन समाज में व्याप्त हो रही विसंगतियों का निराकरण करके हम सभी को सही मार्गदर्शन प्रदान करती रहती हैं पूज्य माताजी की भावनानुसार प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने इस पुस्तक को तैयार करके समसामयिक कार्य किया है।

यह पुस्तक आप सभी के ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि करने में सहायक हो, यही इसको पढ़ने की सार्थकता है।

प्रस्तावना

–ब्र. कु. सारिका जैन (संघस्थ)

प्रस्तुत कृति का नाम है छहढाला (प्रश्नोत्तर सहित)। छहढाला ग्रंथ का नाम लेते ही मस्तिष्क में सर्वप्रथम यही पंक्ति प्रवेश करती है—

''जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःख तें भयवन्त''

अर्थात् तीनों लोकों में जितने जीव हैं, वे सभी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं....।

संसार में प्रायः देखा जाता है कि जो लोग धन–सम्पत्ति–आरोग्यता आदि से सम्पन्न हैं वे अपने आपको परम सुखी मानते हैं तथा दीन–दरिद्री–रोगीजन अपने आप को दुःखी मानते हैं ऐसे लोगों के लिए आचार्यश्री पद्मनंदि स्वामी अपने पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ में सम्बोधन प्रदान करते हैं—

दुःखं किञ्चित् सुखं किञ्चित्, चित्ते भाति जडात्मनः।
संसारे तु पुनर्नित्यं, सर्वं दुःखं विवेकिनः।।

संसार में कुछ दुःख है और कुछ सुख है, ऐसा मूढात्माओं को ही प्रतिभासित है किन्तु विवेकशालियों को तो संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख दिखता है।

जरा विचार करें कि अगर संसार में जरा भी सुख होता तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अति सुखी–सम्पन्न महापुरुष राज्यवैभव का त्याग करके दीक्षा क्यों धारण करते ? जैसा कि वज्रनाभि चक्रवर्ती की बारहभावना में पढ़ते भी हैं—

सुख होता संसार विषे तो, तीर्थंकर क्यों त्यागे!
काहे को शिवसाधन करते, संयम सों अनुरागे!

इस प्रकार की पंक्तियों को पढ़ते रहने से, बार–बार चिन्तन करने से वैराग्य की वृद्धि होती है। आगे निगोद के दुःखों का वर्णन करते हुए त्रसपर्याय की दुर्लभता बताई है कि जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त होता है, उसी प्रकार त्रसपर्याय (दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक) मिलना बहुत कठिन है पुनः नरक आदि चारों गतियों के दुःखों का वर्णन सजीवता से किया है।

आगे दूसरी ढाल में मिथ्यात्व को संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण बताते हुए उसका सर्वथात्याग करने की प्रेरणा प्रदान की है। सम्यक्त्व की उत्कृष्टता एवं मिथ्यात्व की अनुत्कृष्टता को रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्यश्री उमास्वामी ने भी श्लोक के माध्यम से व्यक्त किया है—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम्।।

तीसरी ढाल में रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बताते हुए छह अनायतन, तीन मूढ़ता आदि सम्यग्दर्शन के २५ मलदोषों का त्याग करने की बात कही है तथा सम्यग्दर्शन को आत्मसुख की प्राप्ति में मूलकारण बताते हुए उसे मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी कहा है।

आगे चतुर्थ ढाल में सम्यग्ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है—

ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृति रोग निवारण।।

सम्यग्ज्ञान की विशेषता के साथ ही श्रावकों के बारह व्रत एवं उनके ५–५ अतिचार बताए हैं।

पंचम ढाल में बारह भावनाओं का सुन्दर स्वरूप बताकर छठी ढाल में मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन किया है। मुनियों के समता परिणामों को बताते हुए कविवर ने बहुत सुन्दर बात कही है कि—

अरि-मित्र-महल-मसान-कंचन-कांच-निंदन-थुति करन।
अर्घावतारन-असिप्रहारन, में सदा समता धरन।।

शत्रु–मित्र, महल–श्मशान, कंचन–काँच, निंदा–स्तुति, पूजन–उपसर्ग सभी में समता परिणाम रखने वाले इन मुनिराजों की महिमा बताने के पश्चात् स्वरूपाचरणचारित्र का सुन्दर वर्णन किया है।

इस प्रकार इन छहों ढाल को पढ़कर मन में विशेष आल्हाद उत्पन्न होता है। इस पुस्तक में प्रत्येक ढाल के बाद प्रश्नोत्तर के माध्यम से विषय को और भी सरल बना दिया गया है। पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने प्रथम तीन ढाल में तो काव्य प्रश्नोत्तरी बनाई है पुनः आगे की तीन ढाल के प्रश्नोत्तर गद्य में हैं। पूज्य चंदनामती माताजी की सर्वांगीण लेखनी से अब आप सभी लोग भलीभांति परिचित हैं, उन्होंने षट्खण्डागम सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका की हिन्दी टीका लेखन के अति महत्वपूर्ण कार्य में से समय निकालकर हमें यह कृति प्रदान की है। वे न केवल हिन्दी अपितु संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा की भी सिद्धहस्त लेखिका हैं। उन्होंने वर्तमान के अति आधुनिक युग की मांग के अनुसार अनेक पूजाएँ, भजन, बारहभावना आदि का अंग्रेजी भाषा में लेखन किया है, जिसके द्वारा इंटरनेट आदि के माध्यम से विदेशों में रहने वाले जैन भाई–बहन लाभ प्राप्त कर रहे हैं।

शताधिक कृतियों की रचनाकर्त्री पूज्य आर्यिका श्री के चरणों में नमन करते हुए भगवान जिनेन्द्रदेव से मंगलकामना है कि पूज्य माताजी इसी प्रकार सतत नई कृतियाँ समाज को प्रदान करती रहें।

इस छहढाला को पढ़कर आप सभी पाठकगण संसार की असारता को समझते हुए अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का सतत पुरुषार्थ करें तथा एक न एक दिन उस पुरुषार्थ में अवश्य सफल हों, यही इस पुस्तक को पढ़ने का सार है।

पुस्तक की प्रेरणास्रोत, परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान– टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि– आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991, (22 अक्टूबर सन् 1934)

जाति– अग्रवाल दि. जैन, **गोत्र–** गोयल, **नाम–** कु. मैना

माता-पिता– श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत– ई. सन् 1952 में बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा– चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम– क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा– वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व– अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं 250 विशिष्ट ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद् उपाधि– सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा 8 अप्रैल 2012 को ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा– हस्तिनापुर में जंबूद्वीप तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा- भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा– पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डलविधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभादेवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा– 'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा– जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

पुस्तक की लेखिका, पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी का संक्षिप्त परिचय

-ब्र. कु. बीना जैन (संघस्थ)

नाम– प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

दीक्षा पूर्व नाम– ब्र. कु. माधुरी शास्त्री

जन्मतिथि– 18-5-1958 (ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या)

जन्मस्थान– टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

माता-पिता– श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जी जैन

भाई– चार (कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी,कैलाशचंद, स्व. प्रकाशचंद, सुभाषचंद)

बहन– आठ (गणिनी आर्यिका शिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी एवं आर्यिका श्री अभयमती माताजी सहित)

ब्रह्मचर्य व्रत– 25 अक्टूबर 1969 को जयपुर में 2 वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत एवं सन् 1971, अजमेर में आजन्म ब्रह्मचर्य सुगंधदशमी को गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी से।

धार्मिक अध्ययन– 1972 में सोलापुर से ''शास्त्री'' की उपाधि, 1973 में ''विद्यावाचस्पति'' की उपाधि।

द्वितीय एवं सप्तम प्रतिमा के व्रत– सन् 1981 एवं 1987 में गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी से।

आर्यिका दीक्षा– हस्तिनापुर में 13-8-1989, श्रावण शु. 11 को गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से

प्रज्ञाश्रमणी की उपाधि– 1997 में चौबीस कल्पद्रुम महामण्डल विधान के पश्चात् राजधानी दिल्ली में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा।

पीएच.डी. की मानद उपाधि– तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा 8 अप्रैल 2012 को विश्वविद्यालय में।

साहित्यिक योगदान– चारित्रचन्द्रिका, तीर्थंकर जन्मभूमि विधान, नवग्रहशांति विधान, भक्तामर विधान, समयसार विधान आदि लगभग 100 पुस्तकों का लेखन, वर्तमान में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा ''षट्खण्डागम (प्राचीनतम जैन सूत्र ग्रंथ) एवं ''भगवान ऋषभदेव चरितम्'' की संस्कृत टीकाओं का हिन्दी अनुवाद कार्य, 'समयसार' एवं 'कुन्दकुन्दमणिमाला' का हिन्दी पद्यानुवाद, भगवान महावीर स्तोत्र की संस्कृत एवं हिन्दी टीका, भगवान महावीर हिन्दी-अंग्रेजी शब्दकोष, जैन वर्शिप (अंग्रेजी में पूजा, भजन, बारहभावना आदि), भजन (लगभग 1000), पूजन, चालीसा, स्तोत्र इत्यादि लेखन की अद्भुत क्षमता, हिन्दी भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं की सिद्धहस्त लेखिका, गणिनी ज्ञानमती गौरव ग्रंथ एवं भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि ग्रंथ की प्रधान सम्पादिका।

छहढाला

(प्रश्नोत्तर सहित)

मंगलाचरण

-सोरठा-

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं।।

अर्थ—त्रिभुवन अर्थात् तीन लोकों में सर्वोत्तम वस्तु है, वीतराग विज्ञानता अर्थात् रागद्वेष रहित केवलज्ञान। यही केवलज्ञान आनन्दस्वरूप है और मोक्ष देने वाला है अतः मैं मन-वचन-काय को संभालकर केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—अनन्तानन्त आकाश द्रव्य के बहुमध्य भाग के जितने प्रदेशों में छह द्रव्यों का आवास है, उसे लोक कहते हैं। ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के भेद से यह तीन प्रकार का है और तीन वातवलयों के आधार पर अवस्थित है।

रागयुक्त जीवद्रव्य की शुद्धावस्था अर्थात् अठारह दोषों से रहित अवस्था होना वीतरागता है और विशिष्टज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का नाम विज्ञानता है।

पहली ढाल

(चौपाई छन्द)

ग्रन्थ रचना का उद्देश्य व जीव की चाह

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतैं भयवन्त।
तातैं दुःखहारी सुखकारि, कहैं सीख गुरु करुणा धारि।।१।।

अर्थ—तीनों लोकों में जो अनन्त जीव हैं, वे सभी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं इसलिए आचार्य कृपा करके उन जीवों को दुःख हरने वाली और सुख को देने वाली शिक्षा प्रदान करते हैं।

विशेषार्थ—ज्ञान, दर्शन अर्थात् जानने-देखने की शक्ति से युक्त द्रव्य को जीव कहते हैं।

जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान का विषय न हो, मात्र केवलज्ञान का विषय हो, उसे अनन्त कहते हैं अथवा जिसमें घंटे की ध्वनि सदृश व्यय निरन्तर होता रहे, आय कभी न हो, फिर भी राशि समाप्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं।

"संसार के सभी प्राणी सुखी रहें" आत्मा के इस सुकोमल भाव का नाम करुणा है। सम्यग्दृष्टि जीव का यह सुकोमल परिणाम शुभ राग है किन्तु मोह का कार्य कदापि नहीं है।

संसार भ्रमण का कारण

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान।
मोह-महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।।२।।

अर्थ—हे भव्यजीवों! यदि तुम अपनी भलाई या सुख चाहते हो तो उस कल्याणकारी उपदेश को स्थिर मन से सुनो। यह जीव अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा—शराब पीकर अपने स्वरूप को भूलकर व्यर्थ में चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है।

विशेषार्थ—रत्नत्रय की प्राप्ति की योग्यता युक्त जीव को भव्य कहते हैं। परपदार्थों में अपनत्व बुद्धि होना, मोह कहलाता है। जिसकी आदि अर्थात् प्रारंभ न हो, उसे अनादि कहते हैं।

कृति की प्रामाणिकता और निगोद के दुःख

तास भ्रमण की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा।
काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्री-तन धार।।३।।

अर्थ—इस जीव के संसार-भ्रमण की बहुत लम्बी कहानी है, किन्तु कुछ थोड़ी-सी, जैसी श्रीगुरु—पूर्वाचार्यों ने वर्णन की है, वैसी ही यहाँ मैं भी कह रहा हूँ। इस जीव ने निगोद में एक इन्द्रिय जीव का शरीर धारण कर अनन्त काल बिताया है।

विशेषार्थ—जिस काल को सर्वावधि ज्ञान भी नहीं जान सकता, मात्र केवलज्ञान ही जान पाता है, उस अपरिमित काल को अनन्त काल कहते हैं। साधारण नामकर्म के उदय से एक शरीर के आश्रित अनन्तानन्त जीवों का समान रूप से रहना निगोद कहलाता है अथवा जीव की एक पर्यायविशेष, जिसमें एक श्वाँस के समय का अठारहवाँ भाग पूरा होते ही मरण हो जाता है।

निगोद के दो भेद हैं—नित्य निगोद, इतर निगोद।

नित्य निगोद—जहाँ के जीवों ने अनादिकाल से आज तक त्रस की पर्याय प्राप्त नहीं की, वह नित्य निगोद कहलाता है।

इतर निगोद—निगोद से निकलकर दूसरी पर्याएँ पाकर पुनः निगोद में उत्पन्न होना इतर निगोद कहलाता है।

निगोद के दुःख व निगोद से निकलकर प्राप्त पर्यायें

एक स्वाँस में अठ-दस बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुःख भार।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो।।४।।

अर्थ—इस जीव ने निगोद में एक श्वास मात्र काल में अठारह बार जन्म लिया और मरण को प्राप्त किया। इस प्रकार अनेक दुःखों का भार उसने सहा है। निगोद से निकलकर यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव हुआ।

विशेषार्थ—निरोग मनुष्य की नाड़ी की एक फड़कन एक श्वाँस कहलाती है। जिस वनस्पति में एक शरीर के अनेक जीव स्वामी होते हैं, वह साधारण वनस्पति है तथा जिस वनस्पति में एक शरीर का एक ही जीव स्वामी होता है, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

त्रस पर्याय की दुर्लभता और तिर्यंचगति के दुःख

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणी, त्यों पर्याय लही त्रसतणी।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धर-धर मर्‌यो सही बहुपीर।।५।।

अर्थ—जैसे चिन्तामणि-रत्न बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्थावर से त्रस की पर्याय पाना अति दुर्लभ है। त्रस-पर्याय पाकर भी जब जीव ने लट, चींटी, भौंरा आदि विकलत्रय शरीर को बारम्बार धारण किया और मरण को प्राप्त हुआ, तो उसे वहाँ भी बहुत अधिक दुःख ही सहना पड़ा।

विशेषार्थ—इच्छित पदार्थ देने वाले रत्नविशेष को चिन्तामणि रत्न कहते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्थाविशेष को त्रस कहते हैं।

तिर्यंच गति में असैनी और सैनी के दुःख

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर।।६।।

अर्थ—तिर्यंचगति में विकलत्रय से निकलकर कभी भाग्यवश यह जीव पंचेन्द्रिय 'असैनी' पशु हुआ तो मन के न होने से वह बिल्कुल अज्ञानी रहा और इसी तरह दुःखी रहा। जब 'सैनी' हुआ तो यदि सिंह आदि क्रूर पशु हो गया, तो उसने बहुत से निर्बल पशुओं को मार-मार कर खाया, अतः वहाँ भी घोर पाप का बंध किया।

विशेषार्थ—शिक्षा एवं उपदेश ग्रहण करने की शक्ति से युक्त अर्थात् मन सहित प्राणी सैनी कहलाते हैं तथा शिक्षा और उपदेश ग्रहण करने की शक्ति से रहित अर्थात् मन रहित प्राणी को असैनी कहते हैं।

पंचेन्द्रिय पशुओं के निर्बलता आदि अन्य दुःख

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन।
छेदन भेदन भूख पियास, भार वहन हिम आतप त्रास।।७।।

अर्थ—कभी यह जीव निर्बल पशु हुआ तो बलवान हिंसक पशुओं द्वारा खाया गया, इससे बहुत दुःखी हुआ। यदि खाया न गया और बचा रहा तो छेदा जाना, भेदा जाना, भूख-प्यास सहना, भारी बोझ ढोना, सदी, गर्मी सहना आदि अनेक प्रकार के दुःख उठाता रहा।

विशेषार्थ—मायाचारी अर्थात् मन, वचन एवं काय की कुटिलता से,

मिथ्या उपदेश देने से, परिग्रह में अधिक ममत्व रखने से, शीलव्रत भंग करने से नील एवं कापोत लेश्या युक्त परिणामों से, मरणकाल में आर्त्तध्यान करने से, जाति एवं कुल में दूषण लगने से तथा स्वर्ण, घी, तेल आदि में मिलावट करके बेचने से तिर्यंचगति में जन्म लेना पड़ता है।

तिर्यंचगति में दुःखों की अधिकता और नरकगति की प्राप्ति का कारण

वध-बन्धन आदि दुःख घने, कोटि जीभतैं जात न भने।
अति संक्लेश-भावतैं मर्‌यो, घोर श्वभ्र-सागर में पर्‌यो।।८।।

अर्थ—तिर्यंचगति में इस जीव को मारे जाने, बाँधे जाने आदि के अनेक दुःख सहन करने पड़े जिनका वर्णन करोड़ों जिह्वा से भी नहीं किया जा सकता है। इस दुःखमय दशा में वह जीव बहुत ही संक्लेश परिणामों से मृत्यु को प्राप्त हुआ, उसके फलस्वरूप भयानक नरकगतिरूप समुद्र में जा गिरा।

विशेषार्थ—श्वभ्र नाम नरक का है, वहाँ जन्म लेते ही अनिर्वचनीय दुःख भोगने पड़ते हैं तथा वहाँ अकाल मरण नहीं होता।

नरक की भूमि स्पर्श और नदीजन्य दुःख

तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसें नहिं तिसो।
तहाँ राध-शोणित-वाहिनी, कृमि-कुल-कलित-देह दाहिनी।।९।।

अर्थ—उस नरक की भूमि के स्पर्श करने मात्र से ही इतना कष्ट होता है कि जितना हजारों बिच्छुओं के एक साथ शरीर में काटने पर भी नहीं होता है। नरक में पीव और रक्त की वैतरणी नदी बहती है, जो कीड़ों के समूहों से भरी हुई है और यदि कोई भूमि के स्पर्श से उस नदी में शांति की आशा से घुस जाए, तो उसका वह खून भरा पानी शरीर को दग्ध करने वाला—जलाने वाला ही होता है।

विशेषार्थ—वहाँ खून-पीव आदि सप्त धातुएँ एवं विकलत्रय जीव नहीं होते किन्तु नारकी जीव विक्रिया से स्वयं उस रूप बन जाते हैं।

नरक में सेमर वृक्ष, सर्दी और गर्मी के दुःख

सेमर-तरु-जुत दल-असिपत्र-असि ज्यों देह विदारैं तत्र।
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।।१०।।

अर्थ—नरक की भूमि में ऐसे सेमर वृक्ष हैं, जिनमें तलवार के समान

तीक्ष्ण पत्ते लगे हैं, जो अपनी तीक्ष्ण धार से नारकी के शरीर को वहीं पर विदीर्ण कर देते हैं—टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। वहाँ इतनी भीषण ठण्ड अथवा गर्मी होती है कि सुमेरु पर्वत के समान विराट लोहे का गोला भी गल जाता है।

विशेषार्थ—मेरुपर्वत जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में अवस्थित है। इसकी नींव एक हजार योजन, जमीन से ऊँचाई ९९ हजार योजन, मोटाई दश हजार योजन और चूलिका की ऊँचाई चालीस योजन प्रमाण है।

छंद में जो 'गलि' शब्द आया है, उसके दो अर्थ हैं 'गलना' और 'पिघलना'। जिस प्रकार गर्मी में मोम पिघल जाता है, उसी प्रकार सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला गर्म बिल में फेंका जाए, तो वह बीच में ही पिघलने लगता है तथा जिस प्रकार ठण्ड और बरसात में नमक गल जाता है, उसी प्रकार सुमेरु के बराबर लोहे का गोला ठण्डे बिल में फेंका जाए, तो बीच में ही गलने लगता है।

पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवें नरक के दूसरे-तीसरे भाग में गर्मी है और पाँचवें नरक के प्रथम-द्वितीय-तृतीय भाग में सर्दी है एवं छठवें तथा सातवें नरक में भयंकर सर्दी है।

नरक में अन्य नारकियों व असुरकुमारों द्वारा उदीरित और प्यास के दुःख

तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड।
सिन्धु-नीरतैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूंद लहाय।।११।।

अर्थ—नारकी एक-दूसरे के शरीर के तिल के बराबर छोटे-छोटे टुकड़े कर देते हैं। दुष्ट प्रकृति के असुरकुमार जाति के देव वहाँ जाकर उन नारकियों को आपस में लड़ा देते हैं, जिससे वहाँ आपस में हमेशा कलह और द्वेष का वातावरण बना रहता है। नरक में नारकी को इतने जोर की प्यास लगती है कि वह यदि सारे समुद्र का पानी भी पी जावे, तो भी प्यास नहीं बुझ सकती, फिर भी उन्हें पानी की एक बूँद तक पीने को नहीं मिलती है।

विशेषार्थ—भवनवासी देवों के एक कुल का नाम असुर है, इन असुर कुमार देवों में अम्बाबरीष नामक देव तीसरे नरकपर्यन्त जाकर नारकियों को स्वयं भी दुःख देते हैं तथा आपस में लड़ाते हैं और उनका दुःख देखकर प्रसन्न होते हैं।

नरक की भूख, आयु और मनुष्यगति प्राप्ति का वर्णन

तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ये दुःख बहु सागर लौं सहै, करम जोग तैं नरगति लहै।।१२।।

अर्थ—नरक में भूख इतने जोर की लगती है कि तीनों लोकों का सम्पूर्ण अनाज खा लेने पर भी वह मिट नहीं सकती, लेकिन वहाँ तो अनाज का एक दाना भी प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार नरक के तीव्र दुःख इस जीव ने बहुत सागर (सुदीर्घकाल) तक सहे, फिर कहीं शुभकर्म का संयोग मिलता है, तो वह मनुष्यगति में जन्म लेता है।

विशेषार्थ—उन नरकों में यह जीव ऐसे अपार दुःख कम से कम दश हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेंतीस सागरपर्यन्त भोगता है।

मनुष्यगति में गर्भवास और प्रसवजन्य दुःख

जननी-उदर बस्यो नव मास, अंग-सकुचतैं पाई त्रास।
निकसत जे दुःख पाये घोर, तिनको कहत न आवै ओर।।१३।।

अर्थ—यह जीव मनुष्यगति में माता के गर्भ में नौ मास तक रहा, जहाँ शरीर के सिकुड़े रहने से कष्ट पाया। माता के गर्भ से बाहर निकलते समय जो भयानक कष्ट इस जीव ने पाया है, वह वर्णनातीत है।

विशेषार्थ—माता के रज और पिता के वीर्य के आधार से शरीर की रचना करने वाला यह जीव दशरात्रि तक कललरूप पर्याय में, दशरात्रि तक कलुषीकृत पर्याय में और दशरात्रि तक स्थिरीभूत पर्याय में रहता है। दूसरे मास में बुदबुद, तीसरे मास में घनभूत, चौथे में मांसपेशी, पाँचवें में पाँचपुलक, छठे में आँगोपांग और चर्म तथा सातवें में रोम एवं नखों की उत्पत्ति होती है। आठवें मास में स्पन्दन क्रिया और नौवें या दसवें मास में निर्गमन होता है।

मनुष्यगति में बाल्यावस्था, जवानी व वृद्धावस्था के दुःख

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो।
अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।

अर्थ—बालपन—लड़कपन में इस जीव को ज्ञान न मिला (अज्ञानी रहा)। जवानी में यह स्त्री में तल्लीन रहा और बुढ़ापा तो आधे मरे हुए के समान है ही। ऐसी दशा में यह जीव भला अपना आत्म-स्वरूप कैसे जान सकता है?

विशेषार्थ—मेरी आत्मा चैतन्यमयी, अखण्ड, अमूर्तिक एवं ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है। इस प्रकार के स्वभाव की श्रद्धा आज तक नहीं हुई यही "कैसे रूप लखै आपनो" इस पंक्ति का विशेष भाव है।

देवगति में भवनत्रिक के दुःख

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुर-तन धरै।
विषय-चाह-दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुःख सह्यो।।१५।।

अर्थ—कभी इस जीव ने अकाम निर्जरा की, तो मंद कषाय के परिणाम स्वरूप मरकर भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में से किसी एक का शरीर धारण किया परन्तु वहाँ भी हर समय इन्द्रियों के विषयों की चाहरूपी भयानक अग्नि में जलता रहा और मरते समय रो-रोकर दारुण दुःख सहन किया।

विशेषार्थ—अनायास (बिना इच्छा के) भूख, प्यास, वेदना, रोग एवं आपत्ति-विपत्ति आ जाने पर समता परिणामों से सहन कर लेना अर्थात् मन्दकषाय द्वारा फल देकर कर्मों का स्वयं झड़ जाना अकाम निर्जरा कहलाती है। भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिषी देवों को भवनत्रिक कहते हैं।

देवगति में वैमानिक देवों के दुःख

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय।
तहँ ते चय थावर-तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।१६।।

अर्थ—कभी यह जीव स्वर्ग में विमानवासी देव भी हुआ, तो भी उसने वहाँ सम्यग्दर्शन के अभाव में दुःख ही पाया। आयु पूर्ण होने पर देवगति से चयकर वह तिर्यंचगति में स्थावर के शरीर को धारण करने के दुःखरूप कुगतिभ्रमण करता है। इस प्रकार यह जीव संसार में पंचपरिवर्तनों को पूरा करता है।

विशेषार्थ—विमानों में रहने वाले अथवा स्वर्ग एवं ग्रैवेयक आदि में रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से युक्त जीव स्थावर कहलाते हैं। चय शब्द का अर्थ मरण ही है, किन्तु सौधर्मादि विमानवासियों की गति उत्तम है अतएव वहाँ से निकलने को 'चय या च्युत' होना, इस शब्द का प्रयोग होता है। नरकगति एवं भवनत्रिक ये गतियाँ हीन हैं, अतएव इनसे निकलने को 'उद्वर्तन' (उद्धार) तथा तिर्यंच और मनुष्य गति सामान्य है अतः

उनसे निकलने को 'काल करना' इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप संसार चक्र में परिभ्रमण करना परिवर्तन कहलाता है।

काव्य प्रश्नोत्तरी

—दोहा—

प्रश्न १ —एक प्रश्न पूछूँ सहज, बोलो सोच विचार।
तीन भुवन में कौन सी, वस्तु सार में सार ?।१।।

उत्तर —वीतराग विज्ञानता तीनों लोकों में सारभूत वस्तु है।

प्रश्न २ —लोक में कितने जीव हैं, क्या है उनकी चाह ?
गुरु क्यों उनको बोधते, क्या है उनकी चाह ?

उत्तर —लोक में अनन्त जीव हैं, वे सुख चाहते और दुःख से डरते हैं तथा गुरुजन करुणा की भावना से उनके दुःखों को नष्ट करने एवं सुख प्राप्त कराने हेतु उन्हें सम्बोधन प्रदान करते हैं।

प्रश्न ३ —किस कारण इस जगत में, भूला आतम राम ?
कैसे रुक सकता भ्रमण, कैसे हो कल्याण ?।३।।

उत्तर —मोहरूपी मदिरा को पीकर यह प्राणी अपनी आत्मा को भूल गया है और गुरु की शिक्षा को स्थिरतापूर्वक सुनने से भव भ्रमण समाप्त होकर जीव का कल्याण हो सकता है।

प्रश्न ४ —भ्रमण कथा इस जीव की, कब से है प्रारंभ ?
कितने कालों तक रहा, तन निगोद संबंध ?।४।।

उत्तर —इस जीव की संसार में भ्रमण की कथा अनादिकालीन—बहुत लम्बी है। अपना अनन्तकाल उसने एकेन्द्रिय निगोदपर्याय में बिताया है।

प्रश्न ५ —उस निगोदिया जीव के, कौन सी इन्द्रिय होय ?
उनका कहाँ निवास है, उनकी गति क्या होय ?।५।।

उत्तर —निगोदिया जीव के एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, सातवें नरक के नीचे उनका निवास रहता है तथा उनकी तिर्यंचगति मानी जाती है।

प्रश्न ६ —क्या गिनती उस जीव के, जन्म मरण की ख्यात ?
पुनः वहाँ से निकलकर, जीव कहाँ को जात ?।६।।

उत्तर —वह निगोदिया जीव एक श्वांस में अठारह बार जन्म-मरण करता है पुनः कभी पुण्य योगवश वहाँ से निकलकर वह पंचस्थावरों में जन्म ले लेता है।

प्रश्न ७ —त्रस पर्याय कही किसे, किस उपमा से ख्यात ?
क्यों दुर्लभ यह काय है, मुझे बताओ बात ?।७।।

उत्तर —दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के जीवों का शरीर त्रसकाय कहलाता है, उस त्रस पर्याय को चिन्तामणि रत्न की उपमा दी गई है और जैसे विशेष पुण्योदय से किसी मनुष्य विशेष को ही दुर्लभ चिन्तामणि रत्न प्राप्त होता है वैसे ही स्थावर अवस्था से विशेष पुण्य का उदय होने पर ही जीव को त्रस पर्याय मिलती है, इसलिए उसे दुर्लभ कहा है।

प्रश्न ८ —पञ्चेन्द्रिय पशु भी हुआ, तो भी हुआ न ज्ञान।
बतलाओ क्यों क्रूर पशु, हिंसा करता जान।।८।।

उत्तर —कदाचित् पञ्चेन्द्रिय पशु की पर्याय में भी जीव ने जन्म ले लिया, तो भी वहाँ मन सहित न होने से अज्ञानी ही बना रहा और यदि क्रूर पशु भी हो गया, तो अपने को बलवान् मानकर निर्बल पशुओं की हिंसा करके पाप का ही बंध करता रहा।

प्रश्न ९ —पशुगति के कुछ दुख सहज, दिखते सदा प्रत्यक्ष।
उनको बतलाओ मुझे, यदि तुम श्रोता दक्ष ?।९।।

उत्तर —छेदन, भेदन, भूख, प्यास, सर्दी, गरमी, बोझा ढोना, वध, बंधन आदि पशुगति के दुःख प्रत्यक्ष में दिखते हैं।

प्रश्न १० —नरकभूमि के स्पर्श से, कैसा दुख हो प्राप्त ?
नदी कौन सी बह रही, क्या उसमें है पदार्थ ?।१०।।

उत्तर —नरकभूमि को छूने मात्र से हजारों बिच्छुओं के एक साथ काटने से भी अधिक दुःख प्राप्त होता है। वहाँ बहने वाली नदी का नाम है वैतरणी, जिसमें खून-पीव एवं कीड़े भरे रहते हैं।

प्रश्न ११ —नरक धरा में कौन सा, कष्ट प्रदाता वृक्ष ?
कैसी शीत व उष्णता, बतलाओ हे भव्य!।११।।

उत्तर —नरक में सेमर नाम का वृक्ष अपने तलवार के समान पत्तों से नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके महान दुःख देता है तथा वहाँ मेरुपर्वत के समान विशाल लोहे के गोले के भी गलने जैसी सर्दी-गर्मी पड़ती है।

प्रश्न १२ —कौन देव जाकर वहाँ, करवाते संघर्ष ?
कैसी प्यास की वेदना, होती बोलो शांत ?।१२।।

उत्तर —असुरकुमार नामक जाति के देव तृतीय नरक तक जाकर उन नारकियों को आपस में लड़ाते हैं। वहाँ प्यास की इतनी बाधा होती है कि समुद्र भर भी पानी

पी जावे तो शांत नहीं होगी किन्तु एक बूंद पानी भी वहाँ नहीं मिलता है।

प्रश्न १३ — कैसी भूख की वेदना, कैसे हो वह शांत ?
नरक में कितने दिन सहा, यह दुःख फिर कहाँ जन्म ?।१३।।

उत्तर — तीन लोक का पूरा अन्न खा जावे ऐसी भूख नरक में लगती है किन्तु एक कण भी वहाँ नहीं मिलता है। दस हजार वर्ष से लेकर तैंतीस सागरों तक ये दुःख नरक में सहन करने पड़ते हैं पुनः कर्मयोग से वहाँ से निकलकर मनुष्य गति में भी जन्म धारण कर लेते हैं।

प्रश्न १४ — मानुष तन अनमोल है, फिर भी वहाँ हैं दुक्ख।
जैसा ग्रन्थों में कहा, बतलाओ तुम भव्य!।१४।।

उत्तर — मनुष्यगति में नव मास तक माता के गर्भ में रहना पड़ता है, जहाँ अंगों के सिकुड़ने से अत्यन्त दुःख होता है तथा जन्म लेते समय तीव्र वेदना होती है जो बाद में मनुष्य भूल जाता है और इस अनमोल मानव शरीर से भी अन्याययुक्त कार्य करने लगता है।

प्रश्न १५ — मानव की बालक तथा, तरुण वृद्ध पर्याय।
बोलो कैसे अन्त तक, व्यर्थ बीतती जाय ?।५।।

उत्तर — बाल्यावस्था अज्ञानता में, तरुण अवस्था विषय सेवन में और वृद्धावस्था अर्धमृतक के समान इस मानव ने अनादिकाल से व्यतीत की है, इसीलिए आत्मस्वरूप की पहचान नहीं हो पाई है।

प्रश्न १६ — देव के कितने भेद हैं, वहाँ तो सुख ही सुक्ख ?
लेकिन क्या कोई वहाँ, बतलाओ है दुक्ख ?।१६।।

उत्तर — देव चार प्रकार के माने गये हैं — १. भवनवासी २. व्यन्तरवासी ३. ज्योतिर्वासी ४. कल्पवासी। देवों को स्वर्ग में किसी प्रकार का शारीरिक दुःख नहीं होता है लेकिन वहाँ विषय भोगों का तथा अपने से अधिक वैभव वाले देवों को देखकर मिथ्यादृष्टि देवों को मानसिक दुःख उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न १७ — मिथ्यादृष्टी देवता, कहाँ तक मरकर जांय ?
प्रथम ढाल का सार क्या, बतलाओ यह चाह ?।१७।।

उत्तर — मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रिय स्थावर जीवों तक की योनि में जन्म धारण कर लेते हैं। छहढाला की प्रथम ढाल का सार यह है कि चारों गतियों में सारभूत जो सम्यग्दर्शन है उसे प्राप्त कर अपने भव भ्रमण की सीमा निर्धारित कर लेना चाहिए।

प्रथम ढाल का सारांश

छहढाला की इस प्रथम ढाल में सर्वप्रथम मंगलाचरण में तीन लोक में सारभूत पदार्थ वीतरागता और विज्ञानता (केवलज्ञान) को नमस्कार किया गया है। इन्हें ही मोक्ष का कारण एवं मोक्ष स्वरूप बताया गया है। पश्चात् ग्रंथ उद्देश्य का निर्देश करते हुए कहा गया है कि तीनों लोकों में अनन्तानन्त जीव हैं, जो सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। दुःख को हरण करने वाली और सुखोत्पादक शिक्षा करुणावान् गुरु ने दी है।

मोह के वशीभूत हुए ये जीव अनन्तकालपर्यन्त निगोदपर्याय में अतीव दुःख भोगते हैं। एकेन्द्रिय पर्याय में अनिर्वचनीय दुःख सहन करते हुए बहुत काल व्यतीत होता है। त्रस पर्याय की प्राप्ति तो चिंतामणि रत्न की प्राप्ति सदृश अतीव दुर्लभ है। इस त्रस पर्याय में भी चारों गतियों संबंधी भयावह दुःख भार सहन करना पड़ता है।

प्रथम ढाल में वर्णित नरक, तिर्यंच, गर्भवास आदि एवं भवनत्रिकादि के दुःखों का विवेचन करते समय विद्वानों को प्रथमानुयोग ग्रंथों के उदाहरण देकर विषय को खूब अच्छी तरह स्पष्ट कर देना चाहिए, ताकि सभी श्रोता दुःख से भयभीत होकर पाप क्रियाओं का त्याग करें।

दूसरी ढाल

(पद्धड़ी छन्द)

संसार परिभ्रमण के कारण

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चरण, वश भ्रमत भरत दुख जन्म-मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।

अर्थ—यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के आधीन होकर चारों गतियों में भ्रमण करता है और जन्म-मरण के दुःखों को सहता है इसलिए भलीभांति समझकर उनको त्यागिए। उन तीनों का मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ, सो सुनिए।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार परिभ्रमण के कारण हैं।

अगृहीत-मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का स्वरूप

जीवादि प्रयोजनभूत तत्व, सरधै तिनमांहि विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, विन मूरति चिनमूरति अनूप।।२।।

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-ये सात सारभूत तत्त्व (द्रव्य) हैं। इनका उल्टा (विपरीत) श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। यदि ऐसा जन्मजात संस्कारवश होता है, तो उसे 'अगृहीत मिथ्यादर्शन' कहते हैं। जो देखता-जानता है अर्थात् जिसमें ज्ञान एवं दर्शन होता है, उसे जीव (आत्मा) कहते हैं। यह अमूर्तिक, चैतन्यस्वरूप एवं उपमा रहित है।

विशेषार्थ—चेतना की परिणति विशेष का नाम उपयोग है, या जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं, या जो परिणाम चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता, उसे उपयोग कहते हैं अथवा स्व एवं पर को ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्श सहित वस्तु को मूर्तिक एवं इनसे रहित को अमूर्तिक कहते हैं।

जीव तत्त्व का विपरीत-श्रद्धान

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव-चाल।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान।।३।।

अर्थ—यह जीव (आत्मा) का स्वभाव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है, क्योंकि ये पाँचों द्रव्य अजीव हैं। अज्ञानी जीव इस तथ्य को न जानकर इससे उल्टा स्वरूप मान बैठता है। जैसे-वह अजीवरूप देह को ही आत्मा समझता है, दर्पण के प्रतिबिम्ब को वह अपना ही रूप समझता है और अपनी आत्मा के विकास की इच्छा से शरीर के प्रसाधन जुटाने लगता है।

मिथ्यादृष्टि की मान्यताएँ

मैं सुखी-दुःखी मैं रङ्क राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत-तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।४।।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभाव से यह जीव ऐसा मानता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं धनी हूँ, धन मेरा है, गाय-बैल मेरे हैं, मेरा खूब प्रभाव है, पुत्र मेरे हैं, स्त्री मेरी है, मैं बलवान हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं चतुर हूँ। वास्तव में ये सब पर-पदार्थ के ही परिणमन हैं, आत्मा के नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव को इनमें अपनत्व की प्रतीति होती है।

विशेषार्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य अजीव हैं और इनसे पृथक् स्वभाव वाला जीव द्रव्य चैतन्यस्वरूप है किन्तु इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा न होकर देह को ही आत्मा मानना एवं देहोत्पन्न होने वाली कुरूप-सुरूप, सबल-निर्बल, धनी-निर्धन, मूर्ख-ज्ञानी तथा सुखी-दुखी आदि अवस्थाओं को आत्मा की अवस्थाएँ मानना जीव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा कहलाती है।

अजीव एवं आस्रव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिनही को सेवत गिनत चैन।।५।।

अर्थ—जीव तत्त्व की तरह अजीव तत्त्व का भी मिथ्या श्रद्धान होता है। मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की उत्पत्ति को ही अपनी (आत्मा की) उत्पत्ति समझता

है और शरीर के नाश को अपना (आत्मा का) नाश मानता है।

आत्मा को शरीर के सदृश अजीव-तत्त्व की आत्मरूप मान्यता ही अजीव-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। धन-दौलत आदि के रागादि भाव स्पष्टतः दुःख देने वाले हैं, उन्हीं राग-द्वेष, मान-माया, क्रोध-लोभ, पंचेन्द्रिय के विषयों का वह सेवन करता है और उसमें सुख मानता है। दुखद कर्मास्रवों को सुख का कारण मानना ही यह आस्रव-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है।

बंध और संवर तत्त्व का विपरीत श्रद्धान

शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करै निज पद विसार।
आतम-हित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखैं आपको कष्ट दान।।६।।

अर्थ— मिथ्यादृष्टि जीव पूर्व में बंधे हुए शुभ कर्मों का फल भोगने में तो रुचि रखता है और अशुभ-कर्मों का फल भोगने में अरुचि रखता है क्योंकि वह अपनी आत्मा के स्वरूप को भूला हुआ है। ऐसी शुभ फल में रुचि एवं अशुभ फल में अरुचि रखना, बंध-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है।

आत्मा का हित करने वाले वैराग्य और तत्त्व-ज्ञान हैं। इस जीव को मिथ्यादर्शन के कारण वैराग्य और निज-ज्ञान की बातें कष्टदायक प्रतीत होती हैं। (राग-रङ्ग और पर-ज्ञान में ही वह निमग्न रहना चाहता है और उनमें ही सुख ढूँढ़ता है।) यह संवर-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है।

निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्व का अन्यथा श्रद्धान और अगृहीत मिथ्याज्ञान का स्वरूप

रोके न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।।७।।

अर्थ— इच्छाओं को रोकना तप कहलाता है, जिससे कर्मों की निर्जरा होती है। मिथ्यादृष्टि जीव अपनी इच्छाओं को नहीं रोकता है, इसलिए वह अपनी आत्म शक्ति को व्यर्थ में खोता है। यह निर्जरा तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। इसलिए वह आनन्दरूप आकुलता से रहित मोक्ष तत्त्व को नहीं समझ पाता है, यही मोक्ष तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है।

इस प्रकार का विपरीत श्रद्धान अगृहीत मिथ्यादर्शन है और ऐसे ही उल्टे श्रद्धान के साथ जो कुछ ज्ञान होता है, उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं जो अनन्त दुःखदायक है।

अगृहीत-मिथ्याचारित्र का लक्षण

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्र।
यों मिथ्यात्त्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।।८।।

अर्थ— अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान के साथ पाँचों इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनमें प्रवृत्ति (आचरण) करना ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है। इस तरह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, जो (अनादिकालीन) स्वभाव से ही जीवों के बने रहते हैं, उनका वर्णन किया। अब गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र जो दूसरों के उपदेश से ग्रहण किये जाते हैं, उनके वर्णन को अच्छी तरह से सुनो।

गृहीत-मिथ्यादर्शन और कुगुरु का स्वरूप

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषे चिर दर्शन मोह एव।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैं सनेह।।९।।

अर्थ— कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने से चिरकाल तक मिथ्यात्व की ही पुष्टि होती है। जो अन्तरंग में राग-द्वेषरूप परिणाम और बहिरंग परिग्रह (धन-वस्त्र-शस्त्रादि) युक्त हैं तथा महत्व (यश, बड़प्पन) की चाह से कुलिंग (खोटा भेष) धारण करते हैं, वे पत्थर की नाव के समान हैं—जो स्वयं तो डूबती ही है, बैठने वालों को भी डुबो देती है अर्थात् वे खोटे गुरु जन्म-मरणरूपी संसार में डूबे हुए प्राणियों को अनन्त संसार में ही भटका देते हैं।

कुदेव का स्वरूप

धारैं कुलिंग लहि महत-भाव, ते कुगुरु जन्म जल उपलनाव।
जे रागद्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादि जुत चिन्ह चीन।।१०।।

अर्थ— जो रागद्वेषरूपी मैल से मलिन (दूषित) हैं, जिनको स्त्री, गदा, त्रिशूल, खप्पर आदि अस्त्र-शस्त्र के चिन्ह होने से पहिचाना जा सकता है, वे सब कुदेव हैं। देव के सच्चे स्वरूप को न जानने वाले अज्ञानी लोग ही केवल उनकी सेवा (पूजा, भक्ति, विनय) किया करते हैं अतः उनके संसार के भ्रमण में कभी कमी नहीं हो सकती है अपितु भटकना बढ़ता ही है।

विशेष—यहाँ इस परिभाषा के अनुसार चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि शासन देवियाँ तथा क्षेत्रपाल, धरणेन्द्र आदि शासन देवों को कुदेव में ग्रहण नहीं करना, क्योंकि तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के अनुसार चौबीसों तीर्थंकर भगवान के शासन देव-देवी नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं, उनकी पूजा-अर्चना आगम सम्मत मानी गई है।

कुधर्म का लक्षण एवं गृहीत मिथ्याज्ञान के कथन की प्रतिज्ञा

ते हैं कुदेव, तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भव भ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।।११।।

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहै अशर्म।
याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान।।१२।।

अर्थ—राग-द्वेष आदि परिणाम भावहिंसा है, त्रस और स्थावर जीवों का घात होना द्रव्यहिंसा है, ये दोनों क्रियाएँ कुधर्म हैं। इस प्रकार कुगुरु, कुदेव और कुधर्म में जो जीव श्रद्धान करता है, वह सर्वदा दुःख ही प्राप्त करता है, अतः इनको गृहीत मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) समझो।

गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
रागी कुमतिन कृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

अर्थ—जो शास्त्र एकान्त पक्ष से दूषित हैं या जो विषय-वासनाओं के पोषक होने से निन्दनीय हैं तथा रागी-द्वेषी कुबुद्धि गुरुओं द्वारा रचे गये हैं, उन समस्त शास्त्रों का पठन-पाठन (अध्ययन) गृहीत मिथ्याज्ञान है। जीव (आत्मा) के लिए ये अन्त में बहुत दुःखदायी सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ—भिन्न-भिन्न धर्मों की अपेक्षा एक वस्तु का विरोध रहित अनेक धर्मात्मक कथन करने वाला सिद्धान्त अनेकान्त है और अनेक धर्मों की अपेक्षा न करके वस्तु का एक ही रूप से कथन करना एकान्त है।

गृहीत-मिथ्याचारित्र का स्वरूप

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविधविध देह दाह।
आतम अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।।१४।।
(जे जे करनी शिवपथ विहीन।।१४।।)

अर्थ—अपनी कीर्ति, धन का लाभ, सम्मान आदि की इच्छा से तप करके जो अनेक प्रकार से शरीर को कष्ट देते हैं और जिनको आत्मा क्या है, शरीर क्या है, इसका ज्ञान नहीं है, उनकी क्रियाएँ संसार सुख को तो प्रदान करने वाली हैं, किन्तु मोक्षपद प्राप्त कराने वाली नहीं है।

विशेषार्थ—जैसे तिल और बालू—रेत के लक्षण को न जानने वाले के द्वारा तेल के लिए बालू—रेत पेलने की क्रिया मिथ्या है, वैसे ही जीव और शरीर के भेद को जाने बिना जो-जो क्रियाएँ हैं, वे सब मिथ्याचारित्र हैं।

इस पद्य की चतुर्थ पंकित का स्पष्टीकरण पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी के शब्दों में शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखें-

आत्मा और अनात्मा—स्व और पर के ज्ञान से रहित जो-जो क्रियाएँ हैं वे सब शरीर को क्षीण—कृश करने वाली हैं ऐसा नहीं है प्रत्युत-भस्म लगाना, जटा बढ़ाना, पंचाग्नि तप आदि क्रियाएँ भी भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न कराने में कारण बन जाती हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन के बिना ये क्रियाएँ मोक्षमार्ग को प्राप्त कराने में असमर्थ हैं। कदाचित् ये देव भगवंतों के पंचकल्याणक आदि में जाकर वहाँ सम्यग्दृष्टि भी बन सकते हैं और यदि नहीं भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकें तो भी हजारों, लाखों वर्षों तक देवयोनि के सुखों का अनुभव तो करते ही हैं अतः ये भी मिथ्या तपश्चरण सर्वथा शरीर को सुखाने वाले या व्यर्थ नहीं हैं किन्तु हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से व जुआ आदि दुर्व्यसनों से रहित होने से संसार के भौतिक सुखों को देने वाले ही हैं और नरकों के दुःखों से बचाने वाले ही हैं।

मिथ्याचारित्र और संसार के त्याग का उपदेश

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पन्थ लाग।
जगजाल भ्रमण को देहु त्याग, अब 'दौलत' निज आतम सुपाग।।१५।।

अर्थ—इस द्वितीय ढाल के अन्त में पं. दौलतराम जी अपने को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि ये सब (खोटे तप) मिथ्याचारित्र हैं, इनको छोड़ो। हे दौलत! अब तुम आत्मा के हितकारी मार्ग में लगकर जगत के जंजाल में भटकना त्याग कर अपनी आत्मा में अच्छी तरह लीन हो जाओ।

विशेषार्थ—मिथ्याचारित्र आदि का त्याग ही संसार चक्र के भ्रमण की परिसमाप्ति है अतः इसे छोड़कर आत्म कल्याण के मार्ग में लगो, यही उपदेश का भाव है।

इस ढाल में चतुर्गति भ्रमण व दुःखों का निदान, सात तत्त्वों का उल्टा श्रद्धान, कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का स्वरूप, गृहीत-अगृहीत के भेद से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का वर्णन विशद् रूप में किया गया है। अन्त में संसार के दन्द-फन्द छोड़कर आत्मस्वरूप में लवलीन होने की शिक्षा दी गई है।

काव्य प्रश्नोत्तरी

—पद्धड़ी छंद—

प्रश्न १ —क्षणभंगुर इस संसार मांहि, क्यों जीव भ्रमण करता सदाहि ?
उनको क्यों तजने हेतु कहा, बतलाओ इसका मर्म यहाँ ?।१।।

उत्तर —मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणामों के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है। ये तीनों संसार में दुःखदायी होने के कारण इन्हें त्याग करने की प्रेरणा दी गई है।

प्रश्न २ —मिथ्यादर्शन के मुख्य भेद, कितने होते हैं कहो देख ?
चेतन आत्मा का मुख्य रूप, उत्तर बतलाओ क्या स्वरूप ?।२।।

उत्तर —मिथ्यादर्शन के मुख्य दो भेद हैं—अगृहीत और गृहीत मिथ्यादर्शन। चेतन आत्मा का मुख्य स्वरूप है उपयोगमयी होना, वह आत्मा चिच्चैतन्यरूप अमूर्तिक और अनुपम—उपमारहित है।

प्रश्न ३ —आत्मा का क्यों विपरीत ज्ञान, होता कैसे मन में अज्ञान ?
तब काया के प्रति क्या विचार, करता मानव क्या समझ सार ?।३।।

उत्तर —यह जीव मिथ्यात्व एवं अज्ञानता के वशीभूत होकर पुद्गल आदि पाँचों द्रव्यों को भी जीव के समान ही मानने लगता है, तब वह शरीर को ही आत्मा समझने लगता है।

प्रश्न ४ —मिथ्यादृष्टी क्या मान्य करे, पुद्गल के प्रति क्या भान करे ?
तन उपज नाश में क्या विचार, सुख का माने किसको भंडार ?।४।।

उत्तर —मिथ्यादृष्टि जीव शरीर के सुख-दुःख में आत्मा को ही सुखी-दुःखी मानने लगता है। वह शरीर की उत्पत्ति और विनाश में आत्मा की उत्पत्ति और विनाश मानता है। आत्मा को दुःख प्रदान करने वाले रागद्वेष परिणामों को ही वह असली सुख का भंडार समझकर सच्चे सुख से वंचित रह जाता है।

प्रश्न ५ —शुभ अशुभ कर्म फल भोग जीव, मिथ्यात्व सहित क्या कहे जीव ?
आतम हित के हैं हेतु कौन, उनके प्रति करता भ्रान्ति कौन ?।५।।

उत्तर —मिथ्यादृष्टि जीव शुभ-अशुभ कर्मों के फल सुख-दुःख को भोगने में अत्यन्त रागद्वेषरूप परिणाम करता है और आत्मा के हितकर जो वैराग्य एवं ज्ञानरूप भाव हैं उनको वह भ्रान्तिवश दुःखदायी मानने लगता है।

प्रश्न ६ —कैसी प्रतीति है मिथ्याज्ञान, है अगृहीत की क्या पहचान ?
यदि छहढाला का तुम्हें ज्ञान, दे दो उत्तर को सही मान ?।६।।

उत्तर —अगृहीत मिथ्याज्ञान से सहित जीव की पहचान यह है कि वह आत्मिक शक्ति को खोकर अपनी इन्द्रियजन्य इच्छाओं को रोक नहीं पाता और न ही निराकुल मोक्षसुख की खोज कर पाता है।

प्रश्न ७ —मिथ्यात्व सहित जो विषयवृत्ति, उनको माना कैसा चरित्र ?
कब से वह आत्मा के है संग, बतलाओ यह कैसा प्रसंग ?।७।।

उत्तर —मिथ्यात्व सहित विषय सेवन की प्रवृत्ति को अगृहीत मिथ्याचारित्र कहते हैं वह मिथ्याचारित्र जीव के साथ अनादिकाल से चल रहा है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न ८ —मिथ्यादर्शन का दुतिय भेद, किस नाम से कहता ग्रन्थ वेद ?
बतलाओ उसका क्या स्वरूप, जिसके कारण लखता न रूप ?।८।।

उत्तर —मिथ्यादर्शन के दूसरे भेद का नाम है-अगृहीत मिथ्यादर्शन। उसके होने पर यह जीव सच्चे धर्म को छोड़कर कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रों के प्रति श्रद्धान करने लगता है।

प्रश्न ९ —कुगुरु की क्या पहचान कही, क्यों उनकी मुद्रा पूज्य नहीं ?
उनकी संगति से क्या हो प्राप्त, उत्तर सुन होगा ज्ञान प्राप्त ?।९।।

उत्तर —जिसके अन्तर मन में राग-द्वेष भरा है तथा बाहर में जिन्होंने धन, वस्त्र आदि का परिग्रह धारण कर कुलिंगी भेष को अपना लिया है, उन्हें कुगुरु कहते हैं। जो लोग उनकी संगति करते हैं, वे पत्थर की नाव में बैठने के समान संसार में डूबने का ही फल प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न १० —हैं कौन देव माने कुदेव, किनमें क्या रहती है कुटेव ?
उनसे क्यों नहिं हो भ्रमण छेव, उनकी करते हैं कौन सेव ?।१०।।

उत्तर —जो अपने साथ स्त्री, गदा आदि हथियारों को लिए हुए होते हैं वे कुदेव कहलाते हैं। राग-द्वेष से मलिन होने के कारण उन कुदेवों को सच्चे देव मानकर उनका सत्कार करने वालों का संसार भ्रमण नष्ट नहीं हो सकता है

क्योंकि उनकी सेवा करने वाले भी मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

प्रश्न ११ — बोलो भाई क्या है कुधर्म, क्या है गृहीत मिथ्यात्व मर्म ?
इसका कैसे हो समाधान, जिससे हो जावे सही ज्ञान ?।११।।

उत्तर — जिस धर्म में हिंसा करने की प्रेरणा दी जाती हो, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली क्रियाओं का वर्णन हो, उसे कुधर्म कहते हैं। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म में श्रद्धान करना गृहीत मिथ्यादर्शन कहा गया है।

प्रश्न १२ — क्या है गृहीत मिथ्यात्वज्ञान, किसको होता है कुमतिज्ञान ?
किस श्रुत को मिथ्याशास्त्र कहा, इस उत्तर में है सार बड़ा ?।१२।।

उत्तर — एकान्त और दुराग्रह से समन्वित ज्ञान गृहीत मिथ्याज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यादृष्टि जीवों के ही होता है। मिथ्यादृष्टियों के द्वारा रचित शास्त्र, अश्लील उपन्यास आदि मिथ्याशास्त्र माने जाते हैं क्योंकि उनके अध्ययन से कुज्ञान की ही वृद्धि होती है।

प्रश्न १३ — कैसा गृहीत मिथ्याचरित्र, जो कर न सके आतम पवित्र ?
तब जड़ चेतन का क्या स्वभाव, बोलो कैसा आचरण भाव ?।१३।।

उत्तर — अपने ख्याति, लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा की भावना से शरीर को कष्ट देने वाला तपश्चरण करना गृहीत मिथ्याचारित्र है। ऐसा जीव शरीर और आत्मा की भिन्नता को नहीं जान पाता है और उसकी क्रिया मात्र सांसारिक सुख प्रदान करने वाली होती है अर्थात् संसार से पार करने वाली नहीं होती है।

यहाँ यह बात भी विशेष समझने की है कि तापसियों की जो अनेक प्रकार की क्रियाएँ हैं, वे केवल शरीर को क्षीण करती हैं, ऐसा एकांत नहीं है, क्योंकि उन क्रियाओं से भवनवासी आदि देवों के सुख भी प्राप्त हो सकते हैं इसलिए ये क्रियाएँ सर्वथा व्यर्थ नहीं हैं, क्योंकि संसार के कुछ न कुछ सुख तो देती हीहैं।

प्रश्न १४ — आतमहित का है मार्ग कौन, क्यों हैं उसके प्रति आज मौन ?
दौलत इसका क्या सार कहें, उत्तर दो तुम क्या मान रहे ?

उत्तर — सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही आत्महित के मार्ग हैं और मिथ्यात्व के कारण प्राणी उस रत्नत्रय के प्रति मौन रहते हैं अर्थात् उसे ग्रहण नहीं कर पाते हैं। पण्डित दौलतराम जी छहढाला की द्वितीय ढाल के समापन में अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे दौलत! अब तू ऐसे मार्ग में लग, जिसमें आत्मा का हित हो अतः संसार के जाल में घूमने का अब तू त्याग कर दे और आत्मा में लीन होकर उसकी भलाई में लग जा।

तृतीय ढाल

(नरेन्द्र छंद) जोगीरासा

आत्महित, सच्चा सुख और द्विविध मोक्षमार्ग का लक्षण

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण, शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।।१।।

अर्थ — आत्मा का कल्याण या भलाई सुख में है और वह सुख निराकुल या दुःख रहित होना चाहिए (जिसके पीछे कभी भी चिंता या क्लेश न हो) आकुलता, चिन्ता या दुःख मोक्ष में नहीं है, अतः मोक्षमार्ग में हमें लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इनकी एकता) ही मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग के दो भेद हैं — निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग, जो सत्यार्थरूप या वास्तविक मार्ग है, वह 'निश्चय मोक्षमार्ग' है और जो 'निश्चय मोक्षमार्ग' का कारण है, वह 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है।

विशेषार्थ — मोक्ष जाने के दो मार्ग हैं — व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग। जो सत्यार्थरूप है, अर्थात् जिसके सम्पन्न होने पर उत्तर काल में मोक्ष प्राप्त हो ही जाता है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो निश्चय का कारण अर्थात् साधन है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परागत कारण है।

निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप

परद्रव्यनतैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो सो, सम्यक्ज्ञान कला है।।
आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई।
अब व्यवहार मोक्ष-मग सुनिये, हेतु नियत को होई।।२।।

अर्थ — पर अर्थात् दूसरे पदार्थों को अपनी आत्मा से भिन्न जान कर अपनी आत्मा में प्रीति या श्रद्धान करना 'निश्चय सम्यग्दर्शन' है। अपने आत्म-स्वरूप का ज्ञान करना ही 'निश्चय सम्यक्ज्ञान' है। अपनी आत्मा के स्वरूप में स्थिरता से

लीन रहना ही 'निश्चय सम्यक्चारित्र' है। अब व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं-उसे सुनिये, क्योंकि वह 'निश्चय मोक्षमार्ग' का निमित्त कारण है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बन्धरु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो।।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो।
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीति उर आनो।।३।।

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-इन सात तत्त्वों का स्वरूप जैसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है, वैसा ही मानना या अटल श्रद्धान करना, सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सातों तत्त्वों का सामान्य और विशेष वर्णन आगे करते हैं, उसे समझो और दृढ़ता से हृदय में धारण कर लो।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व कहे हैं। उसका जैसा का तैसा श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन तत्त्वों के स्वरूप का सामान्य और विशेषरूप से वर्णन किया जाता है, उसे सुनकर मन में अटल विश्वास करना चाहिए।

सात तत्त्वों की यथावत् श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। हिंसारहित धर्म, क्षुधादि १८ दोष रहित देव और निर्ग्रंथ गुरु पर श्रद्धा करना भी व्यवहार सम्यक्त्व है।

जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अंतरात्मा का लक्षण

बहिरातम अन्तर आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह जीव को एक गिनै, बहिरातम तत्त्व मुधा है।।
उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी।।४।।

अर्थ—जीव तीन प्रकार के होते हैं-१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा ३. परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को एक गिनते हैं, वे तत्त्वों को न जानने वाले अविवेकी मूढ़ 'बहिरात्मा' या मिथ्यादृष्टि जीव हैं। जो भेदविज्ञान से आत्मा और शरीरादि पर-पदार्थ को भिन्न जानते हैं, वे 'अन्तरात्मा' (सम्यग्दृष्टि) जीव हैं। वे अन्तरात्मा भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। जो २४ प्रकार के परिग्रह-रहित शुद्ध-परिणामी आत्मध्यानी मुनि हैं, वे उत्तम अन्तरात्मा हैं।

विशेषार्थ—पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड से निर्मित शरीर को जो चैतन्य-स्वरूप आत्मा द्रव्य मानते हैं, वे बहिरात्मा हैं।

जड़ एवं नाशवान शरीर से चैतन्यस्वरूप अपने आत्मद्रव्य को भिन्न मानने वाली आत्मा को अन्तरात्मा कहते हैं। अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार के परिग्रह से रहित शुद्ध उपयोग वाले एवं अपनी आत्मा का ध्यान करने वाले मुनि उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

शुभ-अशुभ रागद्वेष की परिणति से रहित ज्ञान-दर्शन की अवस्था विशेष का नाम शुद्धोपयोग है।

मध्यम, जघन्य, अन्तरात्मा और सकल परमात्मा का स्वरूप

मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिवमगचारी।।
सकल निकल परमातम द्वैविध, तिनमें घाति निवारी।
श्री अरिहन्त सकल परमातम, लोकालोक निहारी।।५।।

अर्थ—देशव्रत को धारण करने वाले पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक, ऐलक, उपचार से महाव्रतों को धारण करने वाली आर्यिकाएँ तथा शुभोपयोग में स्थित छट्ठे गुणस्थान वाले महाव्रती मुनिराज को मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं।

जो इन्द्रिय के विषयों से विरक्त नहीं हैं तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्त नहीं हैं पर जिनकी जिनेन्द्रदेव में यथार्थ श्रद्धा है, ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों को जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य, ये तीनों प्रकार के अन्तरात्मा मोक्षमार्ग पर चलने वाले हैं।

परमात्मा दो प्रकार के हैं—एक सकल परमात्मा और दूसरे निकल परमात्मा। श्री अरहंत भगवान शरीर सहित होने से सकल परमात्मा हैं, उन्होंने चारों घातिया कर्मों का विनाश किया है और वे लोक तथा अलोक के दृष्टा अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।

विशेषार्थ—श्रावक के व्रतों का धारी सम्यग्दृष्टि पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को देशव्रती और परिग्रह से रहित छठे गुणस्थानवर्ती जीव को अनगारी कहते हैं।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि का शरीर के प्रति अहंभाव तो नष्ट हो जाता है किन्तु ममत्व बना रहता है यही उसके जघन्यता में कारण है। जो

आत्माएँ कर्ममल से रहित तथा परमपद में स्थित हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं।

निकल परमात्मा का स्वरूप और उसके ध्यान का उपदेश

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्म-मल, वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगैं शर्म अनन्ता।।
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजै।।६।।

अर्थ—औदारिक आदि शरीर रहित शुद्ध ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो तीनों प्रकार के कर्म-मल (द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म) से रहित हैं, ऐसे महान् हैं सिद्ध भगवान। वे शुद्ध निकल (अशरीरी) परमात्मा हैं, ज्ञान के कारण ही वे अनन्त काल तक अनन्त सुख भोगते हैं अतः अपनी आत्मा के चरम (पूर्ण) विकास के लिए बहिरात्मपना (मिथ्यादृष्टि) त्यागने योग्य समझकर उसे त्यागो और अन्तरात्मा बनकर सदा दोनों प्रकार के परमात्माओं का ध्यान लगाओ, जिससे सच्चे आनन्द (चिर शान्ति अर्थात् मोक्ष) की प्राप्ति हो।

विशेषार्थ—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये तीन प्रकार के कर्म हैं। ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों को द्रव्यकर्म, राग-द्वेष, मोहरूप खोटे परिणामों को भावकर्म और औदारिक आदि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण नोकर्म कहलाता है।

जैसे ज्ञान जीव की निजी वस्तु है वैसे ही सच्चा सुख भी जीव का स्वभावसिद्ध वैभव है। शरीर में एकत्वबुद्धि का त्याग, भेदविज्ञान की प्रगटता एवं तत्त्व में तल्लीनता ही इस सुख की प्राप्ति का उपाय है।

अजीव, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्य का लक्षण

चेतनता बिन सो अजीव है, पञ्च भेद ताके हैं।
पुद्गल, पञ्च वरन, रस, गंध दु, फरस वसू जाके हैं।।
जिय-पुद्गल को चलन सहाई, धर्म-द्रव्य अनरूपी।
तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन विन मूर्ति निरूपी।।७।।

अर्थ—अजीव वह है, जिसमें चेतना या आत्मा नहीं है। इसके पाँच भेद हैं- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप (वर्ण), रस, गंध, और स्पर्श हो, उसे पुद्गल-द्रव्य कहते हैं। वर्ण पाँच (काला, श्वेत, लाल, नीला, पीला)

हैं, रस पाँच (खट्टा, मीठा, चरपरा, कडुवा, कषायला) हैं, गंध दो (सुगंध, दुर्गन्ध) और स्पर्श आठ (गर्म, ठण्डा, हल्का, भारी, कोमल, कठोर, रूखा, चिकना) होते हैं। धर्म-द्रव्य अमूर्तिक है, वह स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गल को चलने में सहायक होता है। अधर्मद्रव्य को श्री जिनेन्द्र भगवान ने अमूर्तिक कहा है और वह जीव तथा पुद्गल को ठहरने में सहायक होता है।

विशेषार्थ—लोकान्त के आगे धर्म द्रव्यरूपी पटरी नहीं है अतः सिद्ध जीव आगे नहीं जा सके। धर्म और अधर्म द्रव्य स्वयं चलते एवं स्वयं ठहरते हुए जीव, पुद्गल को चलने एवं ठहरने में सहयोगी होते हैं।

आकाश, काल और आस्रव का स्वरूप व भेद

सकल-द्रव्य को वास जास में, सो आकाश पिछानो।
नियत वर्तना निशिदिन सो, व्यवहार काल परिमानो।।
यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरत अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा।।८।।

अर्थ—अजीव का चौथा भेद आकाश द्रव्य है, जिसमें छहों द्रव्यों का निवास है। यह दो प्रकार का है-१. लोकाकाश—जितने स्थान में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य रहते हैं। २. अलोकाकाश—जिस स्थान में केवल आकाश ही आकाश है, अन्य कोई द्रव्य नहीं।

अजीव का पाँचवाँ भेद काल द्रव्य अर्थात् समय है। सभी द्रव्यों के परिणमन (परिवर्तन) में जो सहायक होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। यह भी दो प्रकार का है—

१. **निश्चयकाल**—जो स्वयं परिवर्तनशील है तथा अन्य सब द्रव्यों के परिवर्तन में कुम्हार के चाक के समान सहायक (अंतरंग कारण) है।

२. **व्यवहारकाल**—रात्रि-दिवस, घड़ी, घण्टा, प्रहर, मिनट आदि। अब आस्रव-तत्त्व का वर्णन करते हैं, जो कर्मों के आगमन में सहायक है।

मन-वचन-काय की चंचलता तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण आत्मा में जो हलचल (प्रवृत्ति) होती है, उससे कर्मों का योग (आगमन) होता है, इसे आस्रव-तत्त्व कहते हैं। कर्मों का आस्रव उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार नाव में छिद्र हो जाने पर पानी भरने लगता है। इसके

५७ भेद हैं—५ मिथ्यात्व (विपरीत, एकांत, विनय, संशय, अज्ञान), १२ अविरति (पापों में प्रवृत्ति), २५ कषाय (जो आत्मा को दुःख दे या पराधीन करे), १५ प्रमाद (अच्छे कार्यों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति न करना)।

विशेषार्थ—जिस प्रकार किसी बर्तन में पानी भरकर उसमें भस्म (राख) डाली जाए, तो वह समा जाती है, फिर उसमें शर्करा डाली जाए, तो वह भी समा जाती है, फिर उसमें सुइयाँ डाली जाएँ, तो वे भी समा जाती हैं, उसी प्रकार आकाश में भी अवगाहन शक्ति है, इसलिए उसमें सर्वद्रव्य एक साथ रह सकते हैं।

अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होते हुए जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में जो निमित्त हो, उसे कालद्रव्य कहते हैं। कालद्रव्य असंख्यात है अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं अतः कालद्रव्य भी असंख्यात है।

इस प्रकार अजीव तत्त्व का वर्णन हुआ, अब आस्रव तत्त्व का वर्णन किया जाता है। मन, वचन, काय, मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद और कषाय सहित जो आत्मा की प्रवृत्ति है, उसे आस्रव कहते हैं।

जो आत्मा को कषता है अर्थात् दुःख देता है, पराधीन करता है अथवा उसके चारित्र आदि गुणों को घातता है, उसे कषाय कहते हैं। पापरूप प्रवृत्ति को अविरति और असावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना या धार्मिक कार्यों में अनुत्साह रखना प्रमाद है।

आस्रव त्याग का उपदेश और बंध, संवर, निर्जरा का लक्षण

ये ही आतम के दुःखकारण, तातैं इनको तजिये।
जीव प्रदेश बँधे विधिसों सो, बन्धन कबहूँ न सजिये।।
शम-दमतैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये।
तप-बलतैं विधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये।।९।।

अर्थ—ये आस्रव भाव (त्रियोग, मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, प्रमाद) आत्मा के लिए दुःख के कारण हैं, इसलिए इनको त्यागना चाहिए। इन्हीं भावों के निमित्त से आये शुभ-अशुभ पुद्गल कर्मों का आत्मा के साथ दूध और जल के समान मिलकर एकमेक हो जाना 'बन्ध-तत्त्व' है।

कषायों के शमन (समता भाव रखने) और दमन (इन्द्रिय व मन को वश में करने) से कर्मों का आना रुक जाता है, इसी को संवर-तत्त्व कहते हैं। ऐसे संवर तत्त्व का आदर करना चाहिए। जैसे नाव का छेद बंद कर देने से पानी का

भरना रुक जाता है।

तप के प्रभाव से आठों कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय) का झड़ना (क्षय) या एकदेश दूर होना निर्जरा तत्त्व है। इस निर्जरा-तत्त्व का सदा आचरण करना चाहिए।

विशेषार्थ—कषायों के उपशम अर्थात् न होने देने को शम और इन्द्रियों एवं मन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना दम कहलाता है।

मोक्ष का लक्षण और व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप

सकल-कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिवथिर सुखकारी।
इहविधि जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी।।
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
येहु मान समकित को कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो।।१०।।

अर्थ—सब कर्मों से रहित अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं, जो स्थाई सुख देने वाली है। इस प्रकार मोक्ष-तत्त्व का लक्षण हुआ।

इस प्रकार सात तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) पर श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। श्री जिनेन्द्र भगवान, सब परिग्रहों से रहित दिगम्बर जैन गुरु (मुनिराज), दयामय धर्म-इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यक्त्व का कारण समझो। इस सम्यक्त्व को उसके आठ अंगों सहित धारण करो।

विशेषार्थ—किसी स्थान विशेष का नाम मोक्ष नहीं है, अपितु बन्धन-मुक्ति का नाम मोक्ष है अर्थात् कर्मबंध से रहित जीव की अवस्था विशेष मोक्ष है। "इह विधि" अर्थात् जिस प्रकार भगवान जिनेन्द्र ने सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार श्रद्धा करना चाहिए।

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष और आठ गुण

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो।
शङ्कादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित पागो।।
अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपहु कहिये।
बिन जानेतैं दोष-गुनन को, कैसे तजिये गहिये।।११।।

अर्थ—आठों मदों को छोड़ो, तीन मूढ़ताओं (खोटे देव, खोटे शास्त्र,

खोटे गुरु) को मन से हटाओ, छः अनायतनों का त्याग करो। शंका आदि आठ दोषों को दूर कर 'प्रशम, संवेग, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य'-सम्यक्त्व की इन ४ भावनाओं को चित्त में धारण करो। अब सम्यग्दर्शन के आठ अंग और पच्चीस दोषों का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं, क्योंकि दोष और गुण जाने बिना जीव कैसे दोषों को त्यागे और गुणों को ग्रहण करे ?

विशेषार्थ— सांसारिक कार्यों में उत्साह न होना प्रशम, धर्मकार्यों में तत्परता और संसार से भीरुता होना संवेग, सभी प्राणी सुखी रहें, दुखी कोई न हो, ऐसी भावना होना अनुकम्पा एवं अपनी आत्मा को तथा स्वर्ग-नरक आदि के अस्तित्व को स्वीकार करना आस्तिक्य है, ये चारों ही सम्यक्त्व की भावनाएँ हैं।

सम्यक्त्व के आठ अंगों का निरूपण

जिन वच में शंका न धार वृष, भव-सुख-वांछा भानै।
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व कुतत्त्व पिछानै।।
निजगुण अरु पर औगुण ढाँकै, वा जिन-धर्म बढ़ावै।
कामादिक कर वृषतैं, चिगते, निज पर को सु दिढ़ावै।।१२।।

अर्थ— १. श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे गये वचनों में शंका नहीं करना एवं उनके उपदेशों में अटल श्रद्धा रखना, यह निःशंकित अंग है। २. धर्म सेवन करके उसके बदले संसार के सुखों की इच्छा न करना, निःकांक्षित अंग है। ३. मुनिराज (या अन्य किसी धर्मात्मा) के शरीर को मैला देखकर घृणा न करना, सो निर्विचिकित्सा अंग है। ४. तत्त्व—खरे (सच्चे) और कुतत्त्व—खोटे तत्त्वों (सिद्धान्तों) की परख कर मूढ़ताओं और अनायतनों में नहीं फँसना, सो अमूढ़दृष्टि अंग है। ५. अपने गुणों को छिपाना और दूसरों के अवगुणों को प्रगट न करना तथा आत्मधर्म को बढ़ाना (निर्मल रखना-दूषित नहीं होने देना), सो उपगूहन अंग है। ६. काम-क्रोध, मान, माया, लोभ आदि किसी विकारवश से यदि धर्म से कोई चलायमान हो गया हो, तो उस समय जिस तरह बने, अपने को और उसको धर्म में दृढ़ करना, सो स्थितिकरण अंग है। ७. जैसे-गाय अपने बछड़े से निःस्वार्थ प्रीति करती है, वैसे ही साधर्मी-बंधुओं से प्रीति करना, सो वात्सल्य अंग है। इससे द्वेष-कलुषता आदि अपने-आप समाप्त हो जाते हैं। ८. अज्ञानरूपी अंधकार को दूर

करने के लिए मंदिर आदि का निर्माण, जैन साहित्य का प्रसार आदि जैसे बने जैनधर्म की उन्नति या प्रचार अथवा प्रभावना करना प्रभावना अंग है। इस प्रकार सम्यक्त्व के ये ८ अंग या गुण हैं। इन गुणों से विपरीत ८ आचरण दोष हैं, जिनसे सदा बचना चाहिए। वे ८ दोष हैं—शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।

विशेषार्थ— जैसे अक्षर, मात्रा एवं अनुस्वार आदि से हीन मंत्र कार्य-सिद्धि में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार अंगहीन सम्यक्त्व जन्म सन्तति के छेद में समर्थ नहीं होता अतः आठों अंगों का पालन अनिवार्य है।

आठ मदों का वर्णन

धर्मीसों गौ-बच्छ-प्रीतिसम, कर जिन-धर्म दिपावै।
इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।।
पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तो मद ठानै।
मद न रूप को, मद न ज्ञान को, धन बल को मद भानै।।१३।।

अर्थ— सम्यग्दृष्टि जीव पिता आदि पितृपक्ष (कुल) के, मामा आदि मातृपक्ष (जाति) के, राजा आदि (शासक) होने का घमण्ड नहीं करता है। वह अपने रूप का, ज्ञान का, धन-सम्पत्ति का, अपनी शक्ति का, तपस्या का, अपने उच्च पद का भी घमण्ड नहीं करता है। जो इन पर-वस्तुओं पर घमण्ड नहीं करता है, वही अपने 'निज-स्वरूप' या आत्मा को समझता है। यदि जीव इन पर घमण्ड करे, तो ये आठ दोष सम्यक्त्व को मलिन (दूषित) कर देते हैं।

छह अनायतन और तीन मूढ़ता

तप को मद न मद जु प्रभुता को, करै न सो निज जानै।
मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै।।
कुगुरु-कुदेव-कुवृष-सेवक की, नहिं प्रशंस उचरै है।
जिनमुनि जिनश्रुत बिन कुगुरादिक, तिन्हें न नमन करै है।।१४।।

अर्थ— खोटे-गुरु, खोटे-देव, खोटा-धर्म और इन तीनों के सेवक अर्थात् खोटे-गुरु के भक्त, खोटे-देव के भक्त और खोटे-धर्म के भक्त-ये छः अनायतन हैं अतः सम्यग्दृष्टि जीव इन छहों की भक्ति-विनय तो दूर, कभी प्रशंसा तक नहीं करता है। यदि प्रशंसा भी करे, तो उसे सम्यक्त्व में दोष लगता है। सिवाय

जिनेन्द्र भगवान, सच्चे मुनि और जिनेन्द्र कथित शास्त्रों के अतिरिक्त किसी कुदेव, कुगुरु या कुशास्त्र को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं करता है। यदि करता है, तो उसके सम्यक्त्व में मूढ़ता नामक दोष लगता है।

विशेषार्थ—जो मद में आकर धर्मात्माओं का अनादर करता है, वह जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए रत्नत्रय धर्म का अनादर करता है क्योंकि धर्म, रत्नत्रय-धारियों के बिना प्राप्त नहीं होता इसलिए मद करने से सम्यक्त्व मलिन हो जाता है। सम्यक्त्व के नाशक कुदेवादिक की प्रशंसा करना अनायतन कहलाता है। धर्म और सम्यक्त्व में दोषजनक अविवेकीपन के कार्य को मूढ़ता कहते हैं।

धर्म समझकर बालू और पत्थरों का ढेर लगाना, गंगा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में जल कर मरना, गाय की पूँछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथिवी, अग्नि और बड़ वृक्ष आदि की पूजा करना लोकमूढ़ता कहलाती है। लौकिक-पारमार्थिक हेय-उपादेय एवं स्वपर ज्ञान रहित अज्ञानीजनों के कुल परिपाटी से आया हुआ और अन्य भी जो धर्माचरण है, उसको भी लोकमूढ़ता जानना चाहिए।

वर की इच्छा से रागी-द्वेषी देवों की सेवा करना अथवा ख्याति-पूजा-लाभ-रूप-लावण्य-सौभाग्य-पुत्र-स्त्री-राज्य आदि संपदा की प्राप्ति के लिए मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना करना देवमूढ़ता कहलाती है।

अज्ञानी लोगों को चित्त चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिष मंत्रवाद आदि को देखकर मिथ्यादेव-मिथ्याआगम एवं मिथ्या तप करने वाले कुलिंगियों को भय-वांछा-स्नेह और लोभ से धर्म के लिए प्रणाम, पूजा, विनय एवं सत्कार आदि करना पाखण्डीमूढ़ता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि की महत्ता और उदासीनता

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यक्दरश सजे हैं।
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजे हैं।।
गेही पै गृह में न रचै ज्यों, जलतैं भिन्न कमल है।
नगरनारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है।।१५।।

अर्थ—२५ दोषों से रहित और ८ गुणों से सहित ऐसे सम्यग्दर्शन से जो बुद्धिमान शोभायमान है, वह यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनीयकर्म के

उदय से किंचित् भी व्रतादि नहीं धारण कर सका है, तो भी उसे इन्द्र तक पूजते हैं। यद्यपि वह गृहस्थ है, फिर भी गृह-कुटुम्बादि में आसक्त नहीं है। जैसे—कमल जल में रहते हुए भी उससे भिन्न है, वैसे ही वेश्या के प्यार जैसा केवल दिखाऊ प्रेम उसका गृह-कुटुम्बादि पर है। अथवा जैसे कीचड़ में पड़ा सोना यद्यपि ऊपर से कीचड़ में सना हुआ दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वह निर्मल है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की अवास्तविक आसक्ति गृहकुटुम्बादि पर पदार्थों पर रहती है, परन्तु वास्तव में उसका अन्तर निज आत्म निधि की ओर दृष्टि लगाए रहता है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि पुरुषार्थ करे, तो शीघ्र ही संयम धारण कर अपने सम्यक्त्व को पूर्णतया निर्दोष और पूर्ण बना सकता है किन्तु इन्द्रों में संयम धारण की योग्यता नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की अनुत्पत्ति के स्थान और सम्यक्त्व की महिमा

प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षंढ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक् धारी।।
तीनलोक तिहुँ काल माहिं नहिं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धरम को मूल यही, इस बिन करनी दुःखकारी।।१६।।
(इस बिन न क्रिया भवहारी।।१६।।)

अर्थ—सम्यक्त्वी जीव पहले नरक के सिवाय शेष छः नरकों में, ज्योतिषी-व्यन्तर-भवनवासी देवों में, नपुंसकों में, स्त्रियों में, स्थावरों में, दो इन्द्रिय-त्रि इन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों में तथा पशु-पर्याय में जन्म धारण नहीं करता है।

तीनों लोकों और तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई भी सुख देने वाला नहीं है। सब धर्मों की जड़ यही है। बिना सम्यग्दर्शन के सभी क्रियाएँ संसार भ्रमण का ही कारण है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन होने के पूर्व ही यदि किन्हीं जीवों ने नरकायु-तिर्यंचायु का बंध कर लिया है, तो वे प्रथम नरक में और भोगभूमिज तिर्यंचों में उत्पन्न होंगे, क्योंकि आयुबंध छूटता नहीं है। यह व्यवस्था मात्र क्षायिक सम्यक्त्व की है। क्षायोपशमिक और उपशम सम्यग्दृष्टि जीव तो नरक और तिर्यंच गतियों में उत्पन्न होते ही नहीं हैं। सम्यग्दर्शन ही सब धर्मों की जड़ है। जैसे जड़ के बिना वृक्ष फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना अन्य सम्पूर्ण

क्रियाएँ मोक्ष सुख देने में समर्थ नहीं हो सकतीं।

पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा इस पद्य का विशेषार्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन संपूर्ण धर्मों का मूल है अतः इसके बिना जितनी भी क्रियाएँ हैं—चारित्र है वह दुःख को देने वाला नहीं है किन्तु नाना प्रकार के संसार के सुख भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों के सुखों को तथा वैमानिक देवों के भी सुखों को देने वाला है। हाँ, यदि वे क्रियाएँ जीवबलि आदि हैं तो अवश्य ही दुःख देने वाली हैं। यदि क्रियाएँ मिथ्याचारित्र में पंचाग्नि तप आदि रूप से हैं तो भी देवों के सुखों को प्राप्त करा देती हैं और यदि जैन परम्परा के अनुसार अणुव्रत, महाव्रत आदिरूप हैं तो परम्परा से सम्यक्त्व के लिए कारण हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व के बिना क्रियाएँ संसार का अंत करने वाली नहीं हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने वाली नहीं हैं। अतः उपर्युक्त १६वें पद्य की चतुर्थ पंक्ति में "इस बिन करनी दुखकारी" के स्थान पर "इस बिन न क्रिया भवहारी" पढ़ना चाहिए।

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं हैं

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान-चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।१७।।

अर्थ—सम्यक्दर्शन ही मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी है। बिना पहले इस पर आए मोक्षरूपी महल में प्रवेश असंभव है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या बने रहते हैं, वे सम्यक् माने ही नहीं जाते हैं इसलिए हे आत्महितैषी भव्य! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो। कवि स्वयं को सम्बोधन कर कहते हैं हे दौलतराम! तू समझ, सुन, फिर सचेत हो जा। तू विवेकी है,इसलिए समय व्यर्थ नष्ट मत कर। समझ ले कि यदि इस पर्याय में सम्यग्दर्शन तुझे प्राप्त नहीं हुआ, तो तेरा मनुष्य जन्म वृथा गया पुनः यह मनुष्य पर्याय मिलना बहुत कठिन है।

विशेषार्थ—जैसे प्रथम घड़ा औंधा रखा जाने पर उसके ऊपर अन्य घड़े सीधे नहीं रखे जा सकते, वैसे ही श्रद्धा समीचीन हुए बिना ज्ञान और चरित्र भी

समीचीनता अर्थात् सम्यक्त्वपने को प्राप्त नहीं होते, इसलिए सम्यक्त्व को मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी कहा गया है।

इस ढाल का अध्ययन कर यह शिक्षा ग्रहण करना चाहिए कि मनुष्य प्रति समय मर रहा है एवं काल अबाध गति से भाग रहा है अतः समय रहते सचेत हो जाना चाहिए अर्थात् सम्यक्त्व ग्रहण कर लेना चाहिए। जैसे बिना धागे वाली सुई गुम हो जाने पर मिलना कठिन हो जाता है, वैसे ही सम्यक्त्व बिना यह जीव नरक-निगोदादि कुगतियों में चला जाता है, जहाँ से निकलकर मनुष्य भव प्राप्त कर पाना अतीव दुर्लभ है।

काव्य प्रश्नोत्तरी

तर्ज— दीदी तेरा.....

प्रश्न १ —प्रश्नों का कुछ लेकर बहाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।
यही चाहे सारा जमाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।टेक.।।
क्या कहते हैं कविवर तृतिय ढाल में, सुन लो प्राणी इसी से तो ज्ञान बढ़ेगा।
कहाँ सच्चा सुख है निराकुल निरापद, बताओ भला उसका मारग है कैसा।
उसके भेद कितने बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१।।

उत्तर —मोक्ष में पूर्ण निराकुल और निरापद सच्चा सुख पाया जाता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। यह मोक्षमार्ग दो तरह का माना है- १. निश्चय मोक्षमार्ग २. व्यवहार मोक्षमार्ग।

प्रश्न २ —जो निश्चय व व्यवहार शिवपथ रत्नत्रय, क्या परिभाषा उनकी बताओ रे भाई ?
जो व्यवहार सम्यक्त्व सुज्ञान चारित्र, की क्या व्यवस्था जिनागम में आई ?।
किसको किसका हेतू है माना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।२।।

उत्तर —निश्चय रत्नत्रय पूर्ण वास्तविक, आत्मा के सच्चे स्वरूप को प्रगट करता है। परद्रव्यों से भिन्न आत्मा को मानकर उसकी श्रद्धा करना "निश्चय-सम्यग्दर्शन" है, उसी आत्मस्वरूप को विशेषरूप से जानना "निश्चय सम्यग्ज्ञान" है और आत्मा के स्वरूप में ही लीन हो जाना "निश्चय सम्यक्चारित्र" है। इस निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त कराने में व्यवहार रत्नत्रय को हेतु माना गया है।

प्रश्न ३ —जो व्यवहार सम्यक्त्व छहढाला में है, कहा उसका लक्षण बताओ सभी को?
जो तत्त्वों की संख्या बताई है कवि ने, उन्हें नाम लेकर बताओ सभी को ?।

इनका उत्तर सुन्दर बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।३।।

उत्तर —जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों का जैसे का तैसा श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। अहिंसा धर्म, क्षुधादि अट्ठारह दोषरहित देव और निर्ग्रंथ गुरु पर श्रद्धान करना भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न ४ —चैतन्यमय जीव आत्मा के कितने, भेदों का वर्णन बताता जिनागम ?
उनकी क्या पहचान बाहर से होती, अन्तर में उनके क्या कहता है आगम ?।
सम्यग्दृष्टी है कौन माना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।४।।

उत्तर —चैतन्य जीव आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, वे बहिरात्मा कहलाते हैं। जो शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मानते हैं, वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कहलाते हैं।

प्रश्न ५ —किसे कहते हैं अन्तरात्मा तथा उनके, हैं भेद कितने समझ में न आए ?
इसी भांति परमातमा के स्वरूप, व भेदों को कवि ने कैसे बताए ?।
इनके उत्तर तुमसे है पाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।५।।

उत्तर —जो भेदविज्ञान से आत्मा और शरीरादि परपदार्थ को भिन्न जानते हैं, वे अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। परमात्मा के दो भेद हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। शरीर सहित होने से अरिहंत भगवान सकल परमात्मा कहलाते हैं।

प्रश्न ६ —अशरीरी सिद्धों का है कौन सा तन, किन कर्ममल को है जीता उन्होंने ?
किस सुख को वे भोगते सिद्धभूमि में, किस पद को पाया है शाश्वत उन्होंने ?।
उत्तर चाहूँ प्रश्नों का पाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।७।।

उत्तर —ज्ञानरूपी शरीर के धारी सिद्ध भगवान तीन प्रकार के कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म मल से रहित होते हैं, वे निकल परमात्मा हैं। वे सिद्धशिला पर अनन्तसुख को भोगते हुए अनन्तकाल तक सिद्धपद में स्थित रहते हैं।

प्रश्न ७ —बिना चेतना के है तत्त्व अजीव, कहो उसके कितने प्रकार बताए ?
पुद्गल के परमाणुओं में भी बोलो, कितने गुणों के अस्तित्व पाएँ ?।
द्रव्य धर्माधर्म बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।७।।

उत्तर —चैतन्य शून्य जो अजीव तत्त्व है, उसके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म,

अधर्म, आकाश और काल। पुद्गल के परमाणुओं में २० गुण होते हैं—५ रस, ५ वर्ण, २ गंध और ८ स्पर्श। जो जीव और पुद्गल को चलने में सहकारी है, वह धर्मद्रव्य है तथा जीव-पुद्गल को जो ठहरने में सहायक है, वह अधर्मद्रव्य कहा जाता है।

प्रश्न ८ —नीले गगन को न आकाश मानो, मगर कैसा आकाश है यह बताओ ?
समय की क्रिया कहने वाला जो है, काल द्रव्य उसी के प्रभेद बताओ ?।
आस्रव की भी महिमा बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।८।।

उत्तर —जीव आदि पाँचों द्रव्यों का जिसमें निवास स्थान है, उसे आकाशद्रव्य कहते हैं।

सभी द्रव्यों के परिणमन (परिवर्तन) में जो सहायक होता है, उसे कालद्रव्य कहते हैं। उसके निश्चयकाल और व्यवहारकाल की अपेक्षा दो भेद हैं।

मन-वचन-काय की चंचलता तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण आत्मा में जो कर्मों का आना होता है, उसे आस्रव कहते हैं।

प्रश्न ९ —किसे कहते हैं बंध तत्त्व जगत में, जिसे हमने अब तक गले से लगाया ?
पुनः तत्त्व संवर का लक्षण बताओ, जिसे बंध के बाद कवि ने बताया ?।
निर्जरा को भी समझाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।९।।

उत्तर —आस्रव भावों के निमित्त से आए शुभ-अशुभ पुद्गलकर्मों का आत्मा के साथ दूध-पानी के समान एकमेक हो जाना बंधतत्त्व है। कषाय के शमन और इन्द्रियों के दमन से कर्मों का रुक जाना संवर तत्त्व है तथा तप के प्रभाव से कर्मों का झड़ जाना निर्जरा है।

प्रश्न १० —कहाँ मोक्ष है उसका लक्षण भी क्या है, बताओ यही तत्त्व अंतिम कहा है?
कहा कौन सा धर्म उत्कृष्ट जग में, व्यवहार सम्यक्त्व किसको कह है ?।
इनके सबके उत्तर बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१०।।

उत्तर —सब कर्मों से रहित अवस्था का नाम मोक्ष है, जो शाश्वत सुख को देने वाली है।

इस प्रकार सात तत्त्वों पर श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्त्व है। दयामय धर्म जगत में सर्वोत्कृष्ट है।

प्रश्न ११ —किसे कहते हैं मद वह गुण है या अवगुण, कितने हैं मद के प्रभेद बताए ?
है क्या मूढ़ता उसके भी भेद कितने, सम्यक्त्व के दोष कितने हैं गाए ?।
थोड़े में ही सब कुछ बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।११।।

उत्तर —घमण्ड, मान, अभिमान को मद इस नाम से जाना जाता है, यह एक प्रकार का अवगुण है, उसके आठ भेद हैं। मूढ़ता ३ प्रकार की है।
सम्यक्त्व के २५ दोष हैं—८ मद, ३ मूढ़ता, ६ अनायतन, शंका आदि ८ दोष।

प्रश्न १२—सम्यक्त्व के कितने अंग हैं बोलो, नहीं कौन शंका करे जिनवचन में ?
नगन तन मुनी में घृणा जो न करते, वे किस अंग को पालते हैं जगत में ?।
उपगूहन का लक्षण बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१२।।

उत्तर —सम्यक्त्व के आठ अंग हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।
जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका नहीं करना निःशंकित अंग है। मुनियों के शरीर को मैला देखकर घृणा न करना निर्विचिकित्सा अंग है। अपने गुणों को छिपाना और दूसरों के अवगुणों को प्रकट न करना उपगूहन अंग है।

प्रश्न १३—सम्यक्त्व के दोष मद जो बताए, उनको न क्यों करना कवि ने बताया ?
किसे कहते हैं जाति मद जैन आगम, बढ़े कैसे कुल का गौरव हमारा ?।
दोषों को न मन से लगाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१३।।

उत्तर —सम्यग्दृष्टि जीवों को निज स्वरूप को समझते हुए इन मदों को नहीं करना चाहिए। मामा आदि मातृपक्ष का घमण्ड करना जातिमद है।

प्रश्न १४—किसे कहते हैं आयतन उनसे उल्टे, अनायतनों में दोष क्या है बताओ ?
कुदेव कुगुरु आदि की सेवा को भी, सदोषी कहा क्यों जरा यह बताओ ?।
उत्तर इनका अच्छा बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१४।।

उत्तर —सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और इनके उपासक को आयतन कहते हैं और उनसे उल्टे खोटे देव-शास्त्र-गुरु एवं उनके भक्त छह अनायतन हैं। इन अनायतनों का सेवन करने से जीव संसार में ही भ्रमण करता है इसलिए इनकी मान्यता दोषपूर्ण मानी गई है।

प्रश्न १५—किस कर्मवश जीव संयम न पावे, है क्या नाम उस कर्म का यह बताओ।
गृहस्थी में रहकर कमलवत् रहें कौन, इन्द्रों से भी पूज्य क्यों वह बताओ।।
किन-किन उदाहरणों से जाना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१५।।

उत्तर —चारित्रमोहनीय कर्म के कारण जीव संयम को ग्रहण नहीं कर पाता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहकर भी जल में कमल के समान भिन्न रहता है

इसीलिए वह इन्द्रों से भी पूज्य माना जाता है। सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति को वेश्या की प्रीति और कीचड़ में सोने के समान बतलाई है कि जैसे वेश्या का प्रेम किसी पुरुष में स्थिर नहीं रहता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव अपने इष्टजनों में अत्यधिक आसक्त नहीं होता है एवं जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ सोना अपनी पवित्रता नहीं छोड़ता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि प्राणी की आत्मा गृहस्थ कीचड़ में रहते हुए भी निर्मल बनी रहती है।

प्रश्न १६—जो सम्यक् सहित हैं वे मर करके बोलो, कहाँ जाते और कहाँ पर न जाते ?
त्रयकालों-त्रयलोकों में सबसे अधिक, सुखदायी किसे आचार्य बताते ?।
धर्मों की जड़ किसको है माना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१६।।

उत्तर —सम्यग्दृष्टि जीव मरकर प्रथम नरक के सिवाय शेष छः नरकों में, ज्योतिषी-भवनवासी-व्यंतरवासी देवों में, नपुंसकों में, स्त्रियों में, स्थावर में, विकलत्रय जीवों में तथा पशुपर्याय में जन्म धारण नहीं करता है तथा तीनों लोकों और तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई भी सुख देने वाला नहीं है। सभी धर्मों की जड़ सम्यग्दर्शन है।
बिना सम्यग्दर्शन के सब क्रियाएँ संसार के सुख तो दे सकती हैं किन्तु उनसे मोक्षसुख नहीं मिल सकता है।
भाररूप एवं केवल दुःख का ही कारण हैं।

प्रश्न १७—प्रथम सीढ़ी मुक्ती महल की बताओ, किसे कहते हैं जैन आगम में भव्यों!
बिना इसके ज्ञान व चारित हैं कैसे, क्या कहते लेखक बताओ स्वयं को ?
सब प्रश्नों का उत्तर बताना, मैं तो चाहूँ सबके ज्ञान को बढ़ाना।।१६।।

उत्तर —सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं माने जाते हैं इसलिए हे आत्महितैषी भव्य! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो।
(पुनः कवि स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं) हे दौलतराम! तू समझ, सुन, फिर सचेत हो जा! तू विवेकी है, इससे समय व्यर्थ नष्ट मत कर। समझ ले कि यदि इस पर्याय में सम्यक्दर्शन तुझे प्राप्त नहीं हुआ, तो पुनः यह मनुष्य पर्याय मिलना बहुत कठिन है।

चौथी ढाल

(रोला छंद)

सम्यग्ज्ञान का लक्षण और समय

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यक्ज्ञान।
स्वपर अर्थ बहु धर्म जुत, जो प्रकटावन भान।।

अर्थ—सम्यक्दर्शन धारण करने के उपरांत भव्य जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे सूर्य सब वस्तुओं और स्वयं को जैसा का तैसा दर्शाता है, उसी प्रकार जो अनेक धर्मों से युक्त 'स्व' (अपने आपको) एवं पर-पदार्थों को जैसा का तैसा बतलाता है-वह 'सम्यक्ज्ञान' है। सम्यक्ज्ञान से आत्मा और अनात्मा के गुण-दोष स्पष्टतः जाने जा सकते हैं। सूर्य और सम्यक्ज्ञान दोनों ही तम (अंधकार) के नाशक हैं-प्रथम बाह्य अंधकार को हटाता है तो दूसरा अन्तर (आत्मा) के अज्ञानरूपी अंधकार का निवारण करता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान, दुहू में भेद अबाधो।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू प्रकाश, दीपकतैं होई।।१।।

अर्थ—यद्यपि सम्यक्दर्शन के साथ ही सम्यक्ज्ञान होता है, फिर भी उनको अलग-अलग समझना चाहिए। सम्यक्दर्शन का लक्षण है-सच्ची श्रद्धा या विश्वास और सम्यक्ज्ञान का लक्षण है ठीक जानना। इस प्रकार इन दोनों में लक्षण भेद (बाधा-रहित) है। सम्यक्दर्शन को 'कारण' समझो और उसका 'कार्य' सम्यक्ज्ञान है। दोनों एक समय एक साथ उत्पन्न होते हुए भी कारण-कार्य के भेद से भिन्न-भिन्न हैं। जैसे दीपक के जलने के साथ प्रकाश होता है, तो भी दीपक को प्रकाश का कारण माना जाता है।

सम्यग्ज्ञान के भेद, देशप्रत्यक्ष के भेद व लक्षण

तास भेद दो हैं परोक्ष, परतिछ तिन माहीं।
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।।

अवधिज्ञान मनपर्जय, दो हैं देश-प्रतच्छा।
द्रव्यक्षेत्र परिमाण लिये, जानैं जिय स्वच्छा।।२।।

अर्थ—सम्यक्ज्ञान के दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। मति और श्रुत ये दोनों परोक्ष ज्ञान हैं जो पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं।

जो ज्ञान बिना किसी (इन्द्रिय, मन) की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यह दो प्रकार का है—देशप्रत्यक्ष व सकलप्रत्यक्ष। जो ज्ञान अपनी आत्मा से ही जानता हुआ पदार्थों को भी द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की मर्यादा लेकर जानता है उसे देशप्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित रूपीपदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान के मूल में दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं—सकलप्रत्यक्ष और देशप्रत्यक्ष। छहों द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तगुण और पर्यायों को जो एक साथ दर्पण सदृश स्पष्ट जानता है, वह सकलप्रत्यक्ष है। जैसे—केवलज्ञान।

जो ज्ञानरूपी पदार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए जानता है, वह देशप्रत्यक्ष है। यथा—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान।

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानता है, वह परोक्ष ज्ञान है। जैसे-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। पाँचों सम्यग्ज्ञानों में से आत्मा के कल्याण का सम्बन्ध सम्यग्-श्रुतज्ञान से है, कारण कि शब्दात्मक होने से श्रुतज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है।

सकलप्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञान का महत्त्व

सकल द्रव्य के गुण अनन्त, परजाय अनन्ता।
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।।
ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारन।
इहि परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारन।।३।।

अर्थ—जो ज्ञान छहों द्रव्यों के तीनों कालों और तीनों लोकों में होने वाले समस्त पर्यायों और गुणों को एक साथ दर्पण के समान स्पष्ट जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह सकलप्रत्यक्ष सम्यक्ज्ञान है। इस संसार में सम्यक्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यक्ज्ञान ही

जन्म, जरा और मृत्युरूपी तीनों रोगों को विनष्ट करने हेतु प्राणी के लिए उत्तम अमृत के समान है।

विशेषार्थ—लोक में यह प्रसिद्ध है कि अमृत पीने से मनुष्य अजर, अमर हो जाता है यह मान्यता तो असत्य हो सकती है किन्तु ज्ञानरूपी अमृत पीने वाला तो निश्चित अजर-अमरपने को प्राप्त हो जाता है, इसलिए इसे परमामृत कहा है।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म निर्जरा में अन्तर

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते।।
मुनिव्रत धार, अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।४।।
(शिवसौख्य न पायो।।४।।)

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञान (सम्यक्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मों तक तप करके जितने कर्मों का नाश करता है, उतने कर्मों का नाश सम्यक्ज्ञानी जीव अपने मन-वचन-काय के निरोधरूप गुप्तियों से क्षण मात्र में सहज ही कर लेता है। यह जीव द्रव्यलिंगी मुनि बनकर महाव्रतों का निरतिचार पालन कर अनन्त बार स्वर्ग में जाकर नवग्रैवेयक विमानों में उत्पन्न हुआ, परन्तु मिथ्यात्व के कारण आत्मा के भेदविज्ञान (सम्यक्ज्ञान या स्वानुभव) के अभाव में इसे मोक्ष सुख नहीं प्राप्त हो सका।

इस पद्य में पं. दौलतराम की एक पंक्ति में संशोधन करते हुए पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने आगमिक अर्थ को स्पष्ट किया है—

मुनिव्रत धारण कर ग्रैवेयक तक गये किन्तु यदि सम्यक्त्व नहीं है, तो मोक्ष सुख प्राप्त नहीं होता है। अथवा मुनिव्रतों को धारण कर-करके अनंतों बार ग्रैवेयक में जाने की बात उनके लिये भी घटित होगी कि जो अभव्य जीव हैं। वे अनंतों बार मुनि बन-बनकर ग्रैवेयक तक प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वे ही अभव्य जीव मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं कर पाते हैं क्योंकि अभव्य जीव सम्यग्दर्शन सहित भावलिंगरूप रत्नत्रय को प्राप्त नहीं करते हैं। इतना अवश्य समझना कि नवग्रैवेयक तक जाने वाले मुनि ही होते हैं। द्रव्य से कोई भी नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण किये बिना सोलह स्वर्गों के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वहाँ अहमिन्द्रों का सुख भी अनुपम है, संसार के अन्य सुखों की उपमा

से रहित ही है इसलिये "सुख लेश न पायो" यह पंक्ति तो बिल्कुल ही गलत है,हाँ, इतना अवश्य है कि वे यदि द्रव्यलिंगी साधु हैं, भव्य हैं तो कभी न कभी मोक्ष जाएँगे ही जाएँगे और यदि अभव्य हैं तो कभी भी रत्नत्रय प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि वे मोक्ष जाएँगे ही नहीं।

यहाँ यह ध्यान रखना है कि पंच परिवर्तन की अपेक्षा भव्य जीव भी कदाचित् अनंत बार नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं। इसीलिए "शिवसौख्य न पायो" यह आगमसम्मत पंक्ति पढ़ना चाहिए।

तत्त्वाभ्यास की प्रेरणा, ज्ञान के दोषों का त्याग और मनुष्य पर्याय, सुकुल एवं जिनवाणी की दुर्लभता

तातैं जिनवर कथित तत्त्व, अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजै।।
यह मानुष-पर्याय, सुकुल, सुनिवो जिनवानी।
इह विध गये न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी।।५।।

अर्थ—इसलिए श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदेशित जीवाजीव आदि तत्त्वों का अभ्यास अर्थात् पठन-पाठन-मनन करें और सम्यक्ज्ञान के तीनों दोषों—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को त्याग कर अपने आत्मस्वरूप को जानें।

जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न फिर हाथ नहीं आता है, उसी प्रकार यह मनुष्य पर्याय पाना, उसमें भी उत्तम श्रावक कुल पाना और सर्वोपरि जिनवाणी के श्रवण जैसा दुर्लभ अवसर व्यर्थ गँवा देने पर बारम्बार प्राप्त नहीं होता इसलिए यह अपूर्व अवसर यूँ ही न खोने दें।

विशेषार्थ—संशय, विभ्रम और अनध्यवसाय ये तीन दोष सम्यग्ज्ञान के हैं। संशय—विरुद्ध अनेक कोटि का अवलम्बन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे—मैं शरीर हूँ या जीव ? (डाँवा डोल प्रवृत्ति)। विभ्रम—विपरीत ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे-यह शरीर ही आत्मा है। अनध्यवसाय—"कुछ है" इस प्रकार निश्चय रहित ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—मैं कुछ भी हूँ।

ज्ञान की महिमा, उसका कारण और विवेक प्राप्ति

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आप को रूप भये, फिर अचल रहावै।।

तास ज्ञान को कारन, स्व-पर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनौ।।६।।

अर्थ— धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-समाज, हाथी-घोड़े, राज्य-वैभव आदि कोई भी वस्तु आत्मा की उन्नति में सहायक सिद्ध नहीं होते हैं, कुछ दिन साथ रहकर अवश्य नष्ट हो जाते हैं किन्तु सम्यक्ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, वह एक बार प्राप्त हो जाए तो अक्षय हो जाता है। आत्मा और पर-वस्तुओं का भेद विज्ञान ही उस सम्यक्ज्ञान का कारण है, इसलिए प्रत्येक आत्महितैषी भव्यजीव को सतत प्रयास एवं करोड़ों उपाय करके भी उस सम्यक्ज्ञान को अपने हृदय में धारण करना चाहिए।

सम्यग्ज्ञान का महत्व और विषय चाह रोकने का उपाय

जे पूरब शिव गये, जाहि, अब आगे जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं।।
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै।
तासु उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै।।७।।

अर्थ— भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में जो भी जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, करेंगे और आज भी विदेह क्षेत्र से कर रहे हैं, वह सब सम्यक्ज्ञान का ही प्रभाव है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव एवं उनके गणधरों की दिव्य देशना में वर्णित है। जिस प्रकार दावानल वन की समस्त वस्तुओं को जलाकर भस्मीभूत कर देता है, उसी प्रकार पंचेन्द्रियसंबंधी विषयों की चाह संसारी जीवों को घेर कर जलाती है, सताती है, दुःख देती है। फिर जैसे मूसलाधार वर्षा उस दावानल को बुझा सकती है, उसी प्रकार यह सम्यक्ज्ञानरूपी मेघसमूह विषयों की चाह को शान्त कर देता है। अन्य कोई भी उपाय कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ— सम्यग्ज्ञान की महिमा दर्शाते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि आज तक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, आज जा रहे हैं और आगे जावेंगे, यह सब प्रभाव मात्र सम्यग्ज्ञान का ही है। जैसे-मूसलाधार जल की वर्षा वन की भयंकर अग्नि को बुझा देती है, वैसे ही सम्यग्ज्ञानरूपी मेघ की वर्षा विषयों की चाहरूपी दावाग्नि को शांत कर देती है।

पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद का निषेध

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसैं फिर थाई।।

लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकलजग-दंद-फंद, निज आतम ध्याओ।।८।।

अर्थ— आत्महितैषी जीव का यह कर्त्तव्य है कि वह धन-पुत्रादि की प्राप्ति में हर्ष और रोग-वियोग आदि होने पर विषाद न करें, क्योंकि ये पुण्य-पाप तो पुद्गलरूप कर्म की पर्याएँ हैं, जो एक के बाद एक उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं। सारे उपदेशों का सार यही है कि समस्त सांसारिक उलझनों/चिन्ताओं से नाता तोड़कर आत्मचिन्तन में प्रवृत्त होना चाहिए।

विशेषार्थ— जो अशुभ गतियों एवं अशुभ प्रवृत्तियों से जीव की रक्षा करे, उसे पुण्य कहते हैं और जो शुभ गतियों एवं शुभ प्रवृत्तियों से जीव की रक्षा करे, उसे पाप कहते हैं।

सम्यक्चारित्र के भेद, अहिंसा और सत्य अणुव्रत के लक्षण

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।।
त्रस-हिंसा को त्याग, वृथा थावर न संघारै।
पर-वधकार कठोर निन्द्य, नहिं वचन उचारै।।९।।

अर्थ— सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके पुनः सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए। सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं—एकदेश और सकलदेश।

यहाँ एकदेश चारित्र का ही वर्णन करते हैं, जिसे श्रावक पालन करते हैं। श्रावकों के बारह व्रत होते हैं, उन्हें क्रमवार कहते हैं। एकदेश चारित्रधारी श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसा का त्यागी होता है और एकेन्द्रिय (स्थावर) जीवों का भी अनावश्यक घात नहीं करता है। (यह पहला अहिंसाणुव्रत है) वह श्रावक स्थूल झूठ का त्यागी होता है और ऐसे वचन भी नहीं बोलता है, जो दूसरे के लिए प्राणघातक हों, दुःखदायक हों, बठोर हों या निन्दा के योग्य हों। (यह दूसरा सत्याणुव्रत है।)

विशेषार्थ— अच्छे कार्यों को करने का नियम लेना और बुरे कार्यों को छोड़ना व्रत कहलाता है। हिंसादि पाँचों पापों का स्थूलरूप से एकदेश त्याग करना अणुव्रत है।

अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण अणुव्रतों का स्वरूप तथा दिग्व्रत का लक्षण

जल मृतिका बिन और, नाहिं कछु गहैं अदत्ता।
निजवनिता बिन सकल, नारिसों रहै विरत्ता।।

अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै।
दश दिश गमन प्रमान ठान, तसु सीम न नाखै।।१०।।

अर्थ—जल और मिट्टी, जिनका कोई स्वामी नहीं और जो सबके उपयोग के लिए हैं, को छोड़कर अन्य किसी भी बिना दी हुई वस्तु को नहीं ग्रहण करना, अचौर्याणुव्रत है।

अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय संसार की सब स्त्रियों से विरक्त रहना, ब्रह्मचर्याणुव्रत है। (इसे स्वदारा सन्तोषव्रत भी कहते हैं)।

अपनी शक्ति का विचार करके धन, धान्य आदि परिग्रह का थोड़ा आवश्यक प्रमाण करना (मर्यादा बाँधना), परिग्रह परिमाणाणुव्रत है।

अब गुणव्रतों का वर्णन करते हैं। दशों दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा निश्चय करके उस मर्यादा का उलंघन न करना 'दिग्व्रत' नामक पहला गुणव्रत है।

विशेषार्थ—परिग्रह परिमाण अणुव्रत तीन प्रकार का है—
(१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य
(१) उत्तम—जितना परिग्रह है, उससे कम की मर्यादा करना।
(२) मध्यम—वर्तमान में जितना परिग्रह है, उससे अधिक नहीं रखूँगा।
(३) जघन्य—वर्तमान में जितना परिग्रह है उससे अधिक का प्रमाण करना।
मूलगुणों और अणुव्रतों को दृढ़ करने वाले व्रत गुणव्रत कहलाते हैं।

देशव्रत नामक गुणव्रत का लक्षण

ताहू में फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमान ठान, अन सकल निवारा।।

अर्थ—दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त के लिए की गई आवागमन के विस्तृत क्षेत्र की सीमा में भी समय की मर्यादा और बाँध देना अर्थात् घड़ी, घण्टा, दिन, महीना, वर्ष आदि काल के नियमानुसार अमुक प्रान्त, नगर, बाग, बाजार, गली, घर आदि तक आने-जाने की मर्यादा (सीमा) निश्चित कर लेना 'देशव्रत' नामक गुणव्रत कहलाता है। व्रती श्रावक इसका कभी उल्लंघन नहीं करता है।

अपध्यान एवं पापोपदेश अनर्थदण्डविरतिव्रतों के लक्षण

काहू की धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै।
देय न सो उपदेश, होय अघ बनज कृषीतैं।।११।।

अर्थ—किसी के धन का नाश हो जावे, किसी की जीत हो जावे, किसी की हार हो जावे, ऐसा विचार नहीं करना पहला 'अपध्यान' नामक 'अनर्थदण्डविरतिव्रत' है। ऐसे व्यापार-उद्योग या खेती करने (जिससे पाप-बंध होता हो) का दूसरों को उपदेश नहीं देना, 'पापोपदेश' नामक दूसरा अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति अनर्थदण्ड त्यागव्रतों का स्वरूप

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै।
असि धनु हल हिंसोपकरण, नहिं दे यश लाधै।।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै।
औरहु अनरथदण्ड हेतु, अघ तिन्हैं न कीजै।।१२।।

अर्थ—प्रमाद (शिथिलाचार) वश कौतूहल या आलस्य के कारण निष्प्रयोजन (व्यर्थ में) पानी बहाने, जमीन खोदने, वृक्ष काटने, आग जलाने आदि का त्याग करने को 'प्रमादचर्या अनर्थदण्डविरतिव्रत' कहते हैं।

यश की अभिलाषा से तलवार, धनुष, हल या हिंसा के कारणभूत (साधन) वस्तुओं को किसी दूसरे को नहीं देना सो 'हिंसादान अनर्थदण्डविरतिव्रत' है। राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली विकथा, किस्सा-कहानी के कहने-सुनने का त्याग करने को 'दुःश्रुति अनर्थदण्डविरतिव्रत' कहते हैं।

शिक्षाव्रतों के लक्षण

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये।
परब चतुष्टय माहिं, पाप तज प्रोषध धरिये।।
भोग और उपभोग, नियम करि ममत निवारै।
मुनि को भोजन देय, फेर निज करहि अहारै।।१३।।

अर्थ—जो व्रत मुनिधर्म पालन करने की शिक्षा देते हैं, उन्हें 'शिक्षाव्रत' कहते हैं। इसके ४ भेद हैं—१. रागद्वेष को त्याग कर अपने परिणामों को स्थिर कर एकान्त स्थान में प्रतिदिन विधिपूर्वक देववंदना-सामायिक करना 'सामायिक शिक्षाव्रत' है। (२) प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को कषाय और व्यापार आदि आरंभ के सांसारिक कार्यों को त्याग कर धर्मध्यानपूर्वक प्रोषधोपवास (धारणा एवं पारणा के दिन एकाशन सहित उपवास) करना 'प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत' है। परिग्रह परिमाणव्रत में परिमित भोगोपभोग की वस्तुओं में से जीवन भर के लिए अथवा कुछ निश्चित समय के लिए

नियम (परिमाण) करना 'भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत' है। इसे 'देशावकाशिकशिक्षाव्रत' भी कहते हैं। दिगम्बर (निर्ग्रंथ) मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि त्यागीव्रती को 'आहारदान' देकर फिर स्वयं भोजन करना 'वैय्यावृत्ति शिक्षाव्रत' है। इसे 'अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत' भी कहते हैं।

विशेषार्थ—जो वस्तुएँ एक ही बार भोगने में आती हैं, उन्हें भोग करते हैं। जैसे-भोजन, पान आदि। जो वस्तुएँ बार-बार भोगने में आती हैं, उन्हें उपभोग कहते हैं। जैसे-वस्त्र, मकान, स्त्री आदि।

अतिचार न लगाने का आदेश और व्रत पालन का फल

बारह व्रत के अतीचार, पन-पन न लगावै।
मरण समय संन्यास धार, तसु दोष नशावै।।
यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहँतैं चय नर-जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै।।१४।।

अर्थ—जो गृहस्थजन श्रावक के पूर्वोक्त बारह व्रतों (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत) को विधिपूर्वक जीवनपर्यन्त पालते हुए उनके पाँच-पाँच अतिचारों को भी टालते हैं और मृत्यु के समय पूर्वोपार्जित दोषों को नष्ट करने के लिए विधिपूर्वक समाधिमरण (सल्लेखना) धारण करते हैं, वह आयु पूर्ण होने पर व्रतों के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और वहाँ से चय कर मनुष्य पर्याय धारण कर मुनिव्रत का पालन करते हुए उसी पर्याय से मोक्ष चले जाते हैं।

विशेषार्थ—ग्रहण किये हुए व्रतों का प्रमाद आदि के कारण एकदेश भंग हो जाना अतिचार कहलाता है। आत्मकल्याण हेतु क्रमशः (धीरे-धीरे) काय और कषाय का त्याग करने को संन्यास, सल्लेखना, समाधि या संथारा कहते हैं।

जिसकी परिणति में श्रद्धा, ज्ञान में विवेक और आचरण में सत् क्रिया हो, उसे श्रावक कहते हैं। चतुर्थ ढाल में आठ छंदों द्वारा सम्यग्ज्ञान एवं उसकी महिमा का विवेचन किया गया है, तत्पश्चात् श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन है।

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न १ —इस चतुर्थ ढाल के प्रारंभ में पं. दौलतराम जी क्या उपदेश दे रहे हैं ?
उत्तर —पं. दौलतराम जी का कहना है कि भव्य प्राणियों! सम्यग्दर्शन को धारण करने के पश्चात् सम्यग्ज्ञान को धारण करो।

प्रश्न २ —सम्यग्ज्ञान को सूर्य की उपमा क्यों दी गई है ?
उत्तर —जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही धरती का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार समीचीन ज्ञान का प्रकाश होते ही समस्त अज्ञानरूपी अंधकार पलायमान हो जाता है।

प्रश्न ३ —सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में क्या अन्तर है ?
उत्तर —सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के साथ होते हुए भी उससे भिन्न है अर्थात् सम्यग्दर्शन का अर्थ है श्रद्धान करना तथा सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जानना। अथवा सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, यह भी दोनों में अन्तर है।

प्रश्न ४ —इस बात को उदाहरण के माध्यम से समझाइए ?
उत्तर —जिस प्रकार दीपक का जलना और प्रकाश का होना दोनों एक साथ होते हैं फिर भी दीपक अलग है-प्रकाश अलग है। इसमें दीपक का जलना कारण है और प्रकाश का होना कार्य है।

प्रश्न ५ —सम्यग्ज्ञान के भेद व लक्षण बताओ ?
उत्तर —उस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं-परोक्ष और प्रत्यक्ष। इनमें से मति-श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं क्योंकि ये इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्षज्ञान के देशप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष दो भेद हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दोनों देशप्रत्यक्ष हैं क्योंकि जीव इनसे द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा लिए हुए स्पष्ट जानता है।

प्रश्न ६ —सकलप्रत्यक्ष का लक्षण बताते हुए ज्ञान की महिमा का प्रतिपादन कीजिए ?
उत्तर —जिनके द्वारा केवली भगवान छहों द्रव्यों के अनन्त गुणों को और उनकी अपरिमित पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानते हैं वह सकलप्रत्यक्ष या केवलज्ञान है।

इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान और कोई दूसरा सुख का कारण नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म-जरा और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिए परम अमृत के समान है।

प्रश्न ७ —ज्ञानी और अज्ञानी की कर्म निर्जरा में क्या अन्तर है ?
उत्तर —अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान—भेद विज्ञान के बिना अनेक भवों तक तप तपने से जितने कर्म नष्ट होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी मुनि के तीन गुप्ति—मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोकने से क्षण भर में आसानी से

नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ यह समझना है कि कोई अभव्यमिथ्यादृष्टि जीव मुनियों के महाव्रतों को धारण कर अनेक बार नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हुआ किन्तु वह मिथ्यात्व के कारण अपनी आत्मा का ज्ञान न होने से आत्मसुख — मोक्षसुख प्राप्त नहीं कर सका।

प्रश्न ८ — उत्तम कुल एवं जिनवाणी की दुर्लभता का वर्णन कीजिए ?

उत्तर — यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल और जिनवाणी का सुनना यह सब छूट जाने पर उनका उसी प्रकार पुनः मिलना कठिन है, जिस प्रकार कि समुद्र में चिन्तामणि रत्न गिर जाने पर उसे खोज पाना कठिन है।

प्रश्न ९ — ज्ञान की महिमा और उसका कारण बताते हुए भेदविज्ञान के बारे में भी बताइए ?

उत्तर — रुपया, पैसा, कुटुम्बी, हाथी, घोड़े और राज्य तो अपने काम में नहीं आते किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है क्योंकि उसके होने पर जीव अचल हो जाता है, उस सम्यग्ज्ञान का कारण आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा गया है अतः हे भव्यों! करोड़ों उपायों को करके उस भेदविज्ञान को हृदय में धारण करो।

प्रश्न १० — सम्यग्ज्ञान की और क्या महिमा है ?

उत्तर — पहले जो जीव मोक्ष को जा चुके हैं, अभी जा रहे हैं और आगे जावेंगे, गणधर देव ने यह सब सम्यग्ज्ञान — आत्मज्ञान की महिमा ही बताया है।

प्रश्न ११ — विषयचाह को रोकने का क्या उपाय है ?

उत्तर — पाँचों इन्द्रियों के विषयों की चाहरूपी भयंकर अग्नि संसारी जीवरूपी वन को जला रही है, उसकी शांति का उपाय कोई दूसरा नहीं है केवल भेदविज्ञानरूपी मेघों का समूह ही उसे शांत करता है।

प्रश्न १२ — पुण्य और पाप में हर्ष-विषाद क्यों नहीं करना चाहिए ?

उत्तर — हे भाई! पुण्य के फल में हर्ष एवं पाप के फलों में विषाद मत करो क्योंकि यह पुण्य तथा पाप पुद्गल की पर्यायें हैं, उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं फिर पैदा हो जाती हैं। अपने हृदय में लाख बातों का सार यही ग्रहण करो कि संसार के सभी विकल्पों को हटाकर हमेशा अपनी आत्मा का ध्यान करो।

प्रश्न १३ — सम्यक्चारित्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर — सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं — देशचारित्र और सकलचारित्र।

प्रश्न १४ — अहिंसा एवं सत्य अणुव्रत का लक्षण क्या है ?

उत्तर — त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करके अनावश्यक स्थावर जीवों का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है तथा दूसरे के लिए दुःखदायक कठोर और निन्दायोग्य वचन नहीं बोलना सत्याणुव्रत कहलाता है।

प्रश्न १५ — अचौर्याणुव्रत का स्वरूप बताइए ?

उत्तर — जल और मिट्टी के सिवाय और कोई चीज बिना दिए हुए नहीं लेना अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

प्रश्न १६ — ब्रह्मचर्य अणुव्रत एवं परिग्रहपरिमाण अणुव्रत की परिभाषा क्या है?

उत्तर — अपनी स्त्री के सिवाय सब स्त्रियों से विरक्त रहना तथा स्त्रियों के लिए अपने पति के सिवाय सब पुरुषों से विरक्त रहना ब्रह्मचर्याणुव्रत है तथा अपनी शक्ति का ध्यान रखकर थोड़ा परिग्रह रखना अर्थात् परिग्रह की सीमा कर लेना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।

प्रश्न १७ — दिग्व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर — दशों दिशाओं में आवागमन की मर्यादा करके उसकी सीमा का उल्लंघन नहीं करना दिग्व्रत नामक गुणव्रत है।

प्रश्न १८ — दश दिशाएँ कौन सी हैं ?

उत्तर — १. पूर्व २. आग्नेय ३. दक्षिण ४. नैऋत्य ५. पश्चिम ६. वायव्य ७. उत्तर ८. ईशान ९. ऊर्ध्व १०. अधः।

प्रश्न १९ — देशव्रत और अनर्थदण्ड विरतिव्रत का स्वरूप बताइए ?

उत्तर — गाँव, गली, मकान, बगीचा और बाजार आदि तक आवागमन की सीमा करके और सबका त्याग कर देना देशव्रत नाम का गुणव्रत है तथा दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर प्रयोजनरहित पापपूर्ण मन-वचन-काय के व्यापाररूप योगों से निवृत्त होना अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

प्रश्न २० — अनर्थदण्डविरतिव्रत के कितने भेद हैं ?

उत्तर — पाँच भेद हैं — अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति।

प्रश्न २१ — अपध्यान और पापोपदेश अनर्थदण्डविरतिव्रत का स्वरूप बताइए ?

उत्तर — किसी के धन के नाश का, किसी की जीत और पराजय का विचार नहीं करना अपध्यान अनर्थदण्डविरतिव्रत है और व्यापार तथा खेती से पाप होता है अतः ऐसा उपदेश नहीं देना पापोपदेश अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

प्रश्न २२ — प्रमादचर्या अनर्थदण्डविरतिव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर — शिथिलाचार से पंचस्थावर — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकायिक जीवों का घात नहीं करना प्रमादचर्या अनर्थदण्डविरतिव्रत कहलाता है।

प्रश्न २३ — हिंसादान और दुःश्रुति अनर्थदण्डविरतिव्रतों का लक्षण बताइए ?

उत्तर — तलवार, धनुष, हल आदि हिंसा के उपकरणों का नहीं देना हिंसादान अनर्थदण्डविरतिव्रत है तथा राग और द्वेष को करने वाली कथाओं को नहीं सुनना दुःश्रुति अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

प्रश्न २४ — शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर — जिन व्रतों के पालन करने से मुनिधर्म के पालन करने की शिक्षा मिलती है, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रश्न २५ — शिक्षाव्रत के कितने भेद हैं ?

उत्तर — चार भेद हैं — १. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. भोगोपभोगपरिमाण और ४. अतिथिसंविभाग।

प्रश्न २६ — चारों शिक्षाव्रतों का स्वरूप क्रम-क्रम से बताइए ?

उत्तर — **सामायिक शिक्षाव्रत** — मन में निर्विकल्पता, समताभाव को धारण करके प्रतिदिन सामायिक करना सामायिक शिक्षाव्रत है।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत — चारों पर्वों में (प्रत्येक महीने की २ अष्टमी-२ चतुर्दशी) पाप के कार्यों को छोड़कर प्रोषधोपवास करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है।

भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रत — भोगरूप और उपभोगरूप वस्तुओं की सीमा करके शेष सभी वस्तुओं से मोह को हटाना भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रत है।

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत — दिगम्बर जैन मुनि-आर्यिका आदि सुपात्रों को आहार देकर पुनः स्वयं भोजन करना अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रत कहा जाता है।

प्रश्न २७ — चतुर्थ ढाल के समापन में पं. दौलतराम जी का क्या कथन है ?

उत्तर — वे कहते हैं कि जो गृहस्थ श्रावक १२ व्रतों के पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता है और मृत्यु के समय संन्यास धारण करके उसके दोषों को दूर करता है वह इस प्रकार श्रावक के व्रतों का पालन कर सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है और वहाँ से च्युत होकर मनुष्यपर्याय प्राप्त कर मुनि होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न २८ — बारह व्रतों के अतिचार से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर — पाँच अणुव्रत के पाँच-पाँच अतिचार, तीन गुणव्रत के पाँच-पाँच अतिचार और चार शिक्षाव्रत के पाँच-पाँच अतिचार ये बारह व्रतों के ६० अतिचार होते हैं।

प्रश्न २९ — अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर — व्रतों के एकदेश भंग होने को — व्रतों में दोष लगने को अतिचार कहते हैं।

प्रश्न ३० — अहिंसाणुव्रत के अतिचार कौन-कौन से हैं ?

उत्तर — अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं — १. बंध २. वध ३. छेद ४. अतिभारारोपण ५. अन्नपान निरोध।

१. किसी को अपने इष्ट स्थान में जाने से रोकने के लिए रस्सी आदि से बांधना बंध अतिचार है।

२. लाठी, तलवार, चाबुक आदि से प्राणियों को मारना वध है।

३. नाक, कान आदि अवयवों को छेदना छेद है।

४. शक्ति से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है।

५. समय पर खाना-पीना नहीं देना अन्नपान निरोध नामक अतिचार है।

प्रश्न ३१ — सत्याणुव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं — १. मिथ्योपदेश २. रहोभ्याख्यान ३. कूटलेख क्रिया ४. न्यासापहार ५. साकार मंत्र-भेद

१. झूठा और अहितकर उपदेश देना मिथ्योपदेश है।

२. स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्त में की गई क्रिया को प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है।

३. किसी का दबाव पड़ने से या स्वयं की इच्छा से दूसरे के लिए ऐसी झूठी बात लिख देना जिससे दूसरा फँस जाये, वह कूटलेख क्रिया है।

४. कोई आदमी अपने पास कुछ धरोहर रख जाए और भूल से कम मांगे तो उसको उसकी भूल न बताकर जितनी वह मांगे, उतनी ही देना न्यासापहार है। (किसी की धरोहर का अपहरण करना न्यासापहार है।)

५. चर्चा-वार्ता से अथवा मुख की आकृति से दूसरे के मन की बात को जानकर लोगों के सामने इसलिए प्रकट कर देना कि उसकी बदनामी हो, वह साकार मंत्र भेद है।

प्रश्न ३२ — अचौर्याणुव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं — १. स्तेन प्रयोग २. तदाहृतादान

३. विरुद्ध-राज्यातिक्रम ४. हीनाधिक मानोन्मान ५. प्रतिरूपक व्यवहार।

१. चोर को चोरी के लिए प्रेरणा करना और उसके उपाय बताना स्तेन प्रयोग है।

२. चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु को खरीदना तदाहृतादान है।

३. राजनियम के विरुद्ध चोर बाजारी वगैरह करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है।

४. आदान-प्रदान में बाँट-तराजू-मीटर-लीटर आदि को कमती- बढ़ती रखना हीनाधिक मानोन्मान है।

५. बहुमूल्य वस्तु में अल्पमूल्य की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना प्रतिरूपक व्यवहार है।

प्रश्न ३३ — ब्रह्मचर्याणुव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर — ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं —

१. परविवाहकरण

२. अपरिगृहीत इत्वरिका गमन

३. परिगृहीत इत्वरिका गमन

४. अनंग क्रीड़ा

५. कामतीव्राभिनिवेश

१. अपने संरक्षण से रहित दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना-कराना परविवाहकरण है।

२. पतिरहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन आदि का व्यवहार रखना अपरिगृहीत इत्वरिका गमन है।

३. पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना रागभावपूर्वक बातचीत करना परिगृहीत इत्वरिका गमन है।

४. कामसेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामसेवन करना अनंग क्रीड़ा है।

५. कामसेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना कामतीव्राभिनिवेश है।

प्रश्न ३४ — परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं-

१. क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम

२. हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम

३. धन-धान्य प्रमाणातिक्रम

४. दासी-दास प्रमाणातिक्रम

५. कुप्य भांड प्रमाणातिक्रम

१. खेत तथा रहने के मकानों के प्रमाण का उल्लंघन करना क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम है।

२. चाँदी तथा सोने के प्रमाण का उल्लंघन करना हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम है।

३. गाय-भैंस आदि पशु तथा गेहूँ-चना आदि अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना धनधान्य प्रमाणातिक्रम है।

४. नौकर-नौकरानियों के प्रमाण का उल्लंघन करना दासी-दास प्रमाणातिक्रम है।

५. वस्त्र तथा बर्तन आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना कुप्य-भांड प्रमाणातिक्रम है।

प्रश्न ३५ — दिग्व्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं —

१. ऊर्ध्वव्यतिक्रम २. अधोव्यतिक्रम ३. तिर्यग्व्यतिक्रम ४. क्षेत्रवृद्धि ५. स्मृत्यन्तराधान

१. प्रमाण से अधिक ऊँचाई वाले पर्वतादि पर चढ़ना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है।

२. प्रमाण से अधिक नीचाई वाले कुएँ आदि में उतरना अधोव्यतिक्रम है।

३. समान स्थान में प्रमाण से अधिक लम्बे जाना तिर्यग्व्यतिक्रम है।

४. प्रमाण किए हुए क्षेत्र को बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है।

५. किए हुए प्रमाण को भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है।

प्रश्न ३६ — देशव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — देशव्रत के पाँच अतिचार हैं —

१. आनयन २. प्रेष्यप्रयोग ३. शब्दानुपात ४. रूपानुपात ५. पुद्गलक्षेप।

१. मर्यादा से बाहर की वस्तु मंगाना आनयन है।

२. मर्यादा से बाहर नौकर आदि को भेजना प्रेष्यप्रयोग है।

३. सीमा से बाहर वाले मनुष्यों को खाँसी आदि शब्द द्वारा अपना अभिप्राय समझा देना शब्दानुपात है।

४. मर्यादा से बाहर रहने वाले मनुष्यों को अपना रूप दिखाकर अर्थात् नेत्र आदि का इशारा करके अपना अभिप्राय समझा देना रूपानुपात है।

५. मर्यादा से बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर अपना अभिप्राय समझा देना पुद्गलक्षेप है।

प्रश्न ३७ — अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — अनर्थदण्डविरतिव्रत के पाँच अतिचार हैं — १. कन्दर्प २. कौत्कुच्य ३. मौखर्य ४. असमीक्ष्याधिकरण ५. उपभोग परिभोगानर्थक्य

१. राग से हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है।

२. शरीर से कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन बोलना कौत्कुच्य है।

३. धृष्टतापूर्वक आवश्यकता से अधिक बोलना मौखर्य है।

४. बिना प्रयोजन मन-वचन-काय की अधिक प्रवृत्ति करना असमीक्ष्याधिकरण है

५. भोग-उपभोग के पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना उपभोग-परिभोगानर्थक्य है।

प्रश्न ३८ — सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं —

१. मनोयोग दुष्प्रणिधान २. वचनयोग दुष्प्रणिधान ३. काययोग दुष्प्रणिधान ४. अनादर ५. स्मृत्यनुपस्थान

१. मन की अन्यथा प्रवृत्ति करना मनोयोग दुष्प्रणिधान है।

२. वचन की अन्यथा प्रवृत्ति करना वचनयोग दुष्प्रणिधान है।

३. शरीर की अन्यथा प्रवृत्ति करना काययोग दुष्प्रणिधान है।

४. उत्साह रहित होकर सामायिक करना अनादर है।

५. एकाग्रता के अभाव में सामायिक पाठ आदि का भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रश्न ३९ — प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं —

१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग

२. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान

३. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण

४. अनादर

५. स्मृत्यनुपस्थान

१. बिना देखी-बिना शोधी हुई जमीन में मलमूत्र आदि का क्षेपण करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है।

२. बिना देखे, बिना शोधे हुए पूजन आदि के उपकरण उठाना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितादान है।

३. बिना देखे, बिना शोधे हुए वस्त्र, चटाई आदि को बिछाना अप्रत्यवेक्षिता-

संस्तरोपक्रमण है।

४. भूख से व्याकुल होकर आवश्यक धर्म कार्यों को उत्साहरहित होकर करना अनादर है।

५. करने योग्य आवश्यक कार्यों को भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रश्न ४० — भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं —

१. सचित्ताहार २. सचित्तसंबंधाहार ३. सचित्तसन्मिश्राहार ४. अभिषवाहार ५. दुष्पक्वाहार

१. सचेतन हरे फल-फूल आदि का भक्षण करना सचित्ताहार है।

२. सचित्त पदार्थ से संबंध को प्राप्त हुई वस्तु का आहार करना सचित्त-संबंधाहार है।

३. सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थ का आहार करना सचित्तसन्मिश्राहार है।

४. गरिष्ठ पदार्थ का आहार करना अभिषवाहार है।

५. कम पके व अधिक पके हुए पदार्थ का आहार करना दुष्पक्वाहार है।

प्रश्न ४१ — अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार कौन से हैं ?

उत्तर — अतिथि संविभाग व्रत के पाँच अतिचार हैं — १.सचित्तनिक्षेप २. सचित्तापिधान ३. परव्यपदेश ४. मात्सर्य ५. कालातिक्रम

१. सचित्त पत्ते आदि में भोजन को रखकर आहार में देना सचित्तनिक्षेप है।

२. सचित्त पत्ते आदि से ढके हुए भोजन आदि का दान करना सचित्तापिधान है।

३. दूसरे दाता की वस्तु को दान में देना परव्यपदेश है।

४. अनादरपूर्वक दान देना अथवा दूसरे दातार से ईर्ष्या करके देना मात्सर्य है।

५. योग्यकाल का उल्लंघन कर अकाल में मुनियों को आहार देना कालातिक्रम है

प्रश्न ४२ — बारह व्रतों का पालन करने वाला श्रावक मरकर कहाँ उत्पन्न होता है ?

उत्तर — जो श्रावक के बारह व्रतों का निरतिचार पालन करता है, वह सोलहवें स्वर्ग तक में जाकर उत्पन्न होता है।

प्रश्न ४३ — बारह व्रतों का पालन करने का और क्या फल है ?

उत्तर — बारह व्रतों का पालन करके सोलह स्वर्गपर्यन्त जाने वाला भव्यात्मा देवपर्याय का काल पूर्ण करके मनुष्य भव में उत्पन्न होता है, वहाँ दिगम्बर मुनि बनकर समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है अतः अणुव्रत पालन करने का फल परम्परा से मोक्ष बताया है।

पाँचवीं ढाल

(चाल छंद)

भावनाओं के चिन्तवन का कारण, अधिकारी और लाभ

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिंतैं अनुप्रेक्षा भाई।।१।।

अर्थ—संसार, शरीर एवं भोगों से विरक्त होकर जिन्होंने सकलव्रतों को धारण किया है, वे दिगम्बर (निर्ग्रंथ) मुनिराज बड़े भाग्यवान हैं। संसार, शरीर और भोगों की असारता तथा अनित्य आदि बारह भावनाओं के स्वरूप का बारम्बार चिन्तवन करना 'अनुप्रेक्षा' है। जैसे माता संतान को जन्म देती है, उसी प्रकार अनुप्रेक्षा वैराग्य उत्पन्न करती है इसलिए वे मुनिराज वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं।

विशेषार्थ—संसार, शरीर और भोगों आदि का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म नाम वाली ये अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं।

भावनाओं का फल

इन चिन्तत समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै।।२।।

अर्थ—जिस प्रकार हवा के लगने से अग्नि वेग से धधक उठती है, उसी प्रकार इन बारह भावनाओं का बारम्बार चिन्तवन करने से समतारूपी भाव जाग्रत हो उठता है, अर्थात् यह जीव अपनी आत्मा के वास्तविकरूप को पहिचानने लगता है। फलस्वरूप वह जीव परपदार्थों से नाता तोड़कर समतारस का पान करता है और कालान्तर में अविनाशी मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—जैसे-वायु के संयोग से अग्नि में वृद्धि होती है, वैसे ही भावनाओं के चिंतन से वैराग्य दृढ़ होता है, जिससे समता में वृद्धि होती है और समता से आत्मिक सुख प्राप्त होता है।

अनित्य भावना का लक्षण

जोवन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रीय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई।।३।।

अर्थ—यौवन, घर, गाय-बैल, द्रव्य, स्त्री, घोड़ा, हाथी, आज्ञा के अनुकूल चलने वाले नौकर तथा इन्द्रियों के भोग-ये क्षणिक हैं, स्थाई नहीं हैं। इन्द्रधनुष या बिजली के अस्तित्व सा चंचल इनका अस्तित्व है। कोई भी पदार्थ नित्य या स्थाई नहीं है, ऐसा विचार कर बार-बार चिन्तवन करना 'अनित्य भावना' है।

विशेषार्थ—स्वस्वामी भाव से ग्रहण किए हुए चेतन, अचेतन एवं मिश्र पदार्थ तथा इन्द्रिय आदि के भोग इन्द्रधनुष एवं बिजली के सदृश क्षणभंगुर हैं, ऐसा चिन्तन करना अध्रुव अर्थात् अनित्य भावना है। जैसे विवेकी मनुष्यों को जूठे भोजन में ममत्व नहीं होता, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, वैभव का वियोग आदि हो जाने पर भी ममत्व नहीं होता, यही इस भावना का फल है।

अशरण-भावना का लक्षण

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई।।४।।

अर्थ—संसार में जो इन्द्र (सुरपति), नागेन्द्र (असुरपति), चक्रवर्ती (खगपति) आदि महिमावान हुए उन सबको भी मृत्यु (काल) उसी प्रकार विनष्ट कर देती है, जैसे हिरण को सिंह मार डालता है। संसार के भौतिक रत्न, मंत्र और तंत्र भी मृत्यु से नहीं बचा सकते। संसार में कोई भी शरण नहीं है और मरने से कोई बचाने वाला नहीं है-ऐसा चिन्तवन करना ही 'अशरण भावना' है।

विशेषार्थ—महावन में व्याघ्र से पकड़े हुए हिरण के बच्चे को एवं महासमुद्र में जहाज से छूटे हुए पक्षी को जैसे कोई शरण नहीं है, वैसे ही मरण आदि के समय इन्द्र, चक्रवर्ती, कोटिभट, सहस्रभट, पुत्र एवं स्त्री आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भोंहरा, मणि, मंत्र, तंत्र, औषधि, आज्ञा एवं महल आदि अचेतन पदार्थ कोई भी शरण नहीं हैं, ऐसा चिन्तन करना अशरण भावना है।

संसार-भावना का लक्षण

चहुँगति दुःख जीव भरै हैं, परिवर्तन पञ्च करै हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा।।५।।

अर्थ—संसार में प्रत्येक प्राणी चारों गतियों के दुःखों को सहता है और पाँचों (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव) परिवर्तन करता रहता है, किन्तु कभी शांति नहीं पाता। वास्तव में यह संसार असार है, उसमें लेशमात्र भी सुख नहीं है। सांसारिक सुख तो सुखाभास, नश्वर, भ्रमरूप और परिणाम में कटु हैं, ऐसा विचार करना 'संसार भावना' है।

विशेषार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप यह संसार अनन्त दुःखों एवं कष्टों से भरा हुआ है, सारहीन है तथा कहीं भी चैन और सुख नहीं है, ऐसा विचार करना संसार भावना है।

एकत्व-भावना का लक्षण

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एकहि तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी।।६।।

अर्थ—अपने पुण्य कर्मों के अच्छे और पाप कर्मों के निन्दनीय फल को प्रत्येक प्राणी अकेला ही भोगता है अर्थात् यह जीव सदा एकाकी है। उसमें पुत्र-स्त्री आदि कोई भी हिस्सेदार नहीं होते हैं। ये सभी रिश्तेदार स्वार्थ के अभिप्राय से ही नाता रखते हैं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में मुँह मोड़ लेंगे-ऐसा विचार करना 'एकत्व भावना' है।

विशेषार्थ—जो अपना आत्मा है वही सदा अविनाशी, परमहितकारी एवं परमबंधु है, विनश्वर तथा अहितकारी पुत्र, कलत्र और मित्र आदि बंधु नहीं हैं अथवा पुण्य और पाप कर्मों के जितने फल हैं, उनको यह जीव अकेला ही भोगता है, स्त्री-पुत्रादि कोई भाग नहीं बाँट सकता, ऐसा चिन्तन करना एकत्व भावना है।

देव-पूजा, गुरु उपासना एवं स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्यों की ओर मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति लगाना शुभोपयोग कहलाता है। विषय-कषायों की ओर त्रियोग की प्रवृत्ति लगाना अशुभोपयोग कहलाता है।

अन्यत्व-भावना का लक्षण

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा।।७।।

अर्थ—जिस प्रकार दूध और पानी एकमेक होकर मिल जाते हैं, किन्तु

अपने-अपने गुणादिक की अपेक्षा से दोनों अलग-अलग रहते हैं, उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी एकमेक होकर मिले हुए हैं, तो भी वे दोनों अपने-अपने स्वरूपादिक की अपेक्षा से अलग-अलग हैं-एक नहीं। जब लेशमात्र भी पृथक् न दिखने वाले जीव तथा शरीर भी जुदे-जुदे हैं, तब स्पष्टरूप से अलग दिखने वाले धन, मकान, पुत्र, स्त्री आदि एक (अपने) कैसे हो सकते हैं ? ऐसा बारम्बार विचार करना 'अन्यत्व भावना' है।

इस भावना के चिन्तवन से 'भेदज्ञान' की सिद्धि होती है। यद्यपि अनादिकाल से शरीर व आत्मा एक साथ रह रहे हैं, किन्तु जो शरीर है वह आत्मा नहीं और जो आत्मा है वह शरीर नहीं। इसी प्रकार संसार की कोई वस्तु मेरी नहीं और मैं भी किसी का नहीं। अन्य वस्तु अन्य रूप है और मैं अन्य रूप हूँ, ऐसी भावना भानी चाहिए।

विशेषार्थ—संसार की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है, दूध-पानी सदृश एकमेक होने वाला शरीर भी मेरा नहीं है, ऐसा चिन्तन करना अन्यत्व भावना है।

एकत्व भावना में "मैं एक हूँ" इस प्रकार विधिरूप से एकपने का चिन्तन किया जाता है किन्तु अन्यत्व भावना में 'देहादिक पदार्थ मेरे नहीं हैं, मुझसे भिन्न हैं' इस प्रकार निषेधरूप से चिन्तन किया जाता है।

अशुचि-भावना का लक्षण

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली।
नवद्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी।।८।।

अर्थ—यह देह ऊपर से देखने में कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, विश्लेषण करने पर अत्यन्त घृणित एवं घोर अपवित्र है। यह काया माँस, खून, पीप, मल-मूत्र आदि की थैली है और हड्डी-चरबी आदि से युक्त होने से पूर्ण अपवित्र है। घृणा उत्पन्न करने वाले नवद्वारों से सदैव मल बहता रहता है-ऐसी अपवित्र देह में भला प्रेम कैसे किया जाये ? ऐसा विचार करना 'अशुचि भावना' है। इसके चिन्तवन से शरीर एवं भोगों से विरक्ति होती है, वैराग्य दृढ़ होता है।

विशेषार्थ—यह शरीर हड्डी, माँस आदि ग्लानिदायक वस्तुओं का घर है, नवद्वारों का पींजरा है, मल, मूत्र आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान है,

केवल इतना ही नहीं अपितु अपने संसर्ग से पवित्र एवं सुगंधित पदार्थों को भी अपवित्र कर देता है, ऐसा चिन्तन करना अशुचि भावना है।

आस्रव भावना का लक्षण

जो योगन की चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हैं निरवेरे।।९।।

अर्थ— हे भव्यजीवों! मन-वचन-काय की चंचलता से कर्मों का आस्रव होता है, अर्थात् कर्म आत्मप्रदेशों में बँधते हैं। यह कर्मास्रव जीव के लिए बहुत दुःखदायी है इसलिए बुद्धिमान एवं चतुर प्राणियों को यह वास्तविकता समझकर उससे बचना चाहिए अर्थात् उनको दूर करना चाहिए, ऐसा विचार करना 'आस्रव भावना' है।

विशेषार्थ— जैसे छिद्र सहित रत्नों से भरा जहाज भी समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही अनन्त गुणों का भण्डार यह आत्मा आस्रवों के कारण संसार-समुद्र में डूब रहा है, ऐसा विचार करना आस्रव भावना है।

संवर-भावना का लक्षण

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके।।१०।।

अर्थ— जो विवेकी प्राणी बंध का कारण होने से पुण्य (शुभोपयोग) और पाप (अशुभोपयोग) रूप भावों को नहीं करते हैं, केवल कर्मबंधरोधक, आत्म-मंथन अर्थात् आत्मा के चिन्तवन (शुद्धोपयोग) में मन लगाते हैं-वे आते हुए नवीन कर्मों को रोककर 'संवर' को पाकर सुख की उपलब्धि करते हैं। अपने चित्त में ऐसा विचार करना 'संवर भावना' है। कर्मों के संवर से दुःख स्वतः समाप्त हो जाता है।

विशेषार्थ— जैसे वही जहाज छिद्र बंद हो जाने से जल के न घुसने पर निर्विघ्न पार हो जाता है वैसे ही यह जीवरूपी जहाज आस्रवरूपी छिद्रों के बंद हो जाने से सुख को प्राप्त हो जाता है, ऐसा चिन्तन करना संवर भावना है।

हिंसा आदि लोकनिंद्य कार्यों को पाप और सच्चे देव द्वारा कथित धार्मिक कार्यों का फल पुण्य कहलाता है।

निर्जरा-भावना का लक्षण

निज काल पाय विधि झरना, तासों निजकाज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै।।११।।

अर्थ— अपनी-अपनी स्थिति (समय) पूर्ण (पूरा) कर सम्पूर्ण संसारी जीवों के कर्मों का नष्ट (क्षय) होना (झरना) सविपाक या अकाम निर्जरा है। जैसे-आम अपना समय आने पर ही पकता या गिरता है, उसी प्रकार सविपाक निर्जरा में कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही फल देकर झड़ जाते हैं। इस अकाम निर्जरा से आत्मा (जीव) का कुछ भी कल्याण नहीं होता है।

तप के द्वारा कर्मों का नाश किया जाना अविपाक या सकाम निर्जरा है। जैसे-कोई कच्चा आम तोड़कर पाल में दबा कर असमय में ही पका दिया जाता है, उसी प्रकार अविपाक निर्जरा में कर्म स्थिति पूर्ण हुए बिना ही तप आदि के बल से नष्ट कर दिये जाते हैं। यह सकाम निर्जरा ही मोक्ष सुख को प्राप्त को कराती है इसलिए सकाम निर्जरा के कारणों को जानकर कर्मों को स्वयं तप के द्वारा दूर करना चाहिए, ऐसा विचार करना 'निर्जरा भावना' है।

लोक-भावना का लक्षण

किनहू न करौ न धरै को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोकमांहि बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता।।१२।।

अर्थ— इस लोक को किसी ने नहीं बनाया है और न कोई इसे धारण किए हुए है। यह लोक छः द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से भरा हुआ है और कोई इसका कभी नाश नहीं कर सकता है। इस स्वयंसिद्ध लोक में यह जीव समतापरिणति के अभाव में भ्रमण करता है और दुःख सहता है। ऐसा विचार करना, दसवीं 'लोक भावना' है।

बोधि दुर्लभ-भावना का लक्षण

अन्तिम ग्रीवकलौं की हद, पायों अनन्त बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ।।१३।।

अर्थ— मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव (प्राणी) ने मंद कषाय के फलस्वरूप असंख्य बार नौवें ग्रैवेयक (स्वर्ग का विमान) में उत्पन्न होकर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया, परन्तु इसे एक बार भी सम्यक्ज्ञान का उदय नहीं हुआ क्योंकि

उसका पाना कोई सरल काम नहीं है। ऐसे बड़ी कठिनता से उपलब्ध होने वाले सम्यक्ज्ञान की साधना आत्मचिन्तवन करने वाले भावलिंगी मुनि ही कर सकते हैं, ऐसा विचार करना 'बोधिदुर्लभ भावना' है।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय, विकलत्रय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, नरपर्याय, उत्तम कुल, उत्तम देश, सांगोपांगता, सुन्दर रूप, इन्द्रियों की पूर्णता, कार्य कुशलता, निरोगता, दीर्घायु, श्रेष्ठ बुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, श्रद्धान करना, संयम, विषय सुखों से पराङ्मुखता एवं क्रोधादि कषायों से निवृत्ति ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। काकतालीय न्याय से ये कदाचित् मिल भी जाएँ, तो भी बोधि और समाधि की प्राप्ति तो अति दुर्लभ है, ऐसा सदैव चिंतन करना चाहिए।

पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होना बोधि है तथा इस बोधि को निर्विघ्नतापूर्वक अन्य भव में ले जाना समाधि है। दिगम्बर मुनिराज ही इसे अपने हृदय में धारण करके मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। बिना सम्यग्ज्ञान के तो इस जीव ने अनन्तों बार मुनिव्रत धारण कर नवम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया किन्तु मोक्ष प्राप्त नहीं कर सका, इसलिए इसे अतिदुर्लभ कहा है।

धर्म-भावना का लक्षण

जे भाव मोहतैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै।।१४।।

अर्थ—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, तप आदि जितने भी भाव हैं, वे सब मोह-भाव से भिन्न हैं (क्योंकि ये भाव धर्मरूप हैं)। इस धर्म को जब यह जीव धारण करता है, तब ही वह शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष (सब कर्मों से रहित अवस्था) को प्राप्त करता है, ऐसा चिन्तवन करना 'धर्म प्रभावना' है।

विशेषार्थ—वस्तु का स्वभाव धर्म, अहिंसा धर्म, उत्तम क्षमादि दस-लक्षण धर्म, निश्चय एवं व्यवहार धर्म तथा शुद्ध आत्मानुभव रूप, मोह-क्षोभ रहित आत्मपरिणाम वाला धर्म, ये धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षण हैं। धर्म में कर्तव्य-पालन की प्रधानता रहती है किन्तु धर्म भावना में धर्म के लक्षणों का बार-बार चिन्तन किया जाता है।

मुनिधर्म को सुनने की प्रेरणा

सो धर्म मुनिन-करि धरिये, तिनकी करतूत उचरिये।
(तिनकी गुणकीर्ति उचरिये)
ताकों सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।।१५।।

अर्थ—ऐसे रत्नत्रयस्वरूप हितकारी धर्म को भावलिंगी निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैसे मुनि ही धारण करते हैं और कोई अन्य नहीं, क्योंकि रत्नत्रय का पूर्ण पालन केवलमात्र वे ही करने में समर्थ हैं इसलिए अगली अध्याय में उन मुनियों की क्रियाओं (कर्त्तव्यों) अर्थात् सकलचारित्र का वर्णन किया जाता है। हे भव्यजीवों! उन मुनि के कर्त्तव्यों को सुनो और अपनी आत्मा के अनुभव को पहचानो अर्थात् समझो।

यहां 'करतूत' शब्द लोकविरुद्ध है प्रायः गलत क्रियाओं को 'करतूत' कहते हैं अतः 'गुणकीर्ति' पद अच्छी चर्या और क्रिया का बोध कराने वाला है।

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न १ —अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं ?
उत्तर —संसार, शरीर और भोगों के स्वभाव का पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न २ —अनुप्रेक्षा कितनी होती हैं ? उनके नाम बताइए ?
उत्तर —अनुप्रेक्षाएँ बारह होती हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अनित्य २. अशरण ३. संसार ४. एकत्व ५. अन्यत्व ६. अशुचि ७. आस्रव ८. संवर ९. निर्जरा १०. लोक ११. बोधिदुर्लभ और १२. धर्म।

प्रश्न ३ —इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करने से क्या फल मिलता है ?
उत्तर —जैसे हवा के लगने से अग्नि धधक उठती है, उसी प्रकार इन बारह भावनाओं के चिन्तवन से समतारूपी सुख जागृत हो जाता है। इन भावनाओं के द्वारा जब जीव आत्मा को पहचानता है, तब ही जीव मोक्षरूपी सुख को प्राप्त करता है।

प्रश्न ४ —अनित्य भावना का क्या स्वरूप है ?
उत्तर —जवानी, घर, गाय, धन, स्त्री, घोड़ा, हाथी, कुटुम्बी, नौकर और इन्द्रिय-भोग आदि सब क्षणभंगुर—विनाशीक हैं, ऐसा बार-बार चिंतवन करना अनित्य अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न ५ —अशरण भावना का लक्षण बताइए ?

उत्तर —जैसे हिरण को सिंह नष्ट कर देता है, वैसे ही इन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र और खगेन्द्र (विद्याधर) आदि को भी मृत्यु नष्ट कर देती है अर्थात् संसार में कोई शरण नहीं है, ऐसा बार-बार चिंतवन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न ६ —संसार अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं ?

उत्तर —जीव चारों गतियों के दुःख भोगता हुआ पंच परावर्तन करता है और यह संसार सब प्रकार से असार है इसमें थोड़ा सा भी सुख नहीं है, ऐसा चिन्तवन करना संसार अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न ७ —एकत्व भावना का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर —अपने शुभ कर्मों के अच्छे और अशुभ कर्मों के खराब फल को जीव अकेला ही भोगता है, पुत्र और स्त्री आदि कोई भी हिस्सेदार नहीं होते, वे सब मतलब के साथी हैं, ऐसा चिंतवन करना एकत्व अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न ८ —अन्यत्व अनुप्रेक्षा से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर —मैं शरीर से भिन्न हूँ, फिर स्त्री, पुत्र, धन आदि बाह्य परिग्रह मेरे कैसे हो सकते हैं अर्थात् आत्मा से सभी पदार्थ पृथक् हैं, ऐसा चिन्तवन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न ९ —अशुचि भावना का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर —यह शरीर मांस-खून-पीप और मल-मूत्रादि का घर है, इस तरह शरीर की अपवित्रता का चिन्तवन करते हुए आत्मा की पवित्रता को प्राप्त करने का चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न १० —आस्रव भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर —कर्मों का आना आस्रव है और वह आस्रव बहुत दुःख देने वाला है, ऐसा जानकर उससे बचने का चिन्तवन करना आस्रव अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न ११ —संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप बताइए ?

उत्तर —जो शुभ और अशुभ भाव नहीं करते तथा आत्मा के चिन्तन में चित्त लगाते हैं, वे कर्मों के आस्रव को रोकते हैं और संवर को पाकर सुख पाते हैं, ऐसा चिन्तवन करना संवर अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न १२ —निर्जरा भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर —संवरपूर्वक तप के बल से संचित कर्मों का झड़ जाना निर्जरा है, ऐसा चिन्तवन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न १३ —लोक अनुप्रेक्षा का लक्षण बताइए ?

उत्तर —छह द्रव्यों से भरे हुए लोक को न किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है, ऐसे संसार में समता के बिना यह जीव भटकता हुआ दुःख भोगता रहता है, ऐसा चिन्तवन करना लोक अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न १४ —बोधि दुर्लभ भावना से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर —संसार में अति दुर्लभ सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का बार-बार चिन्तवन करना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न १५ —धर्म भावना का स्वरूप प्रतिपादित कीजिए ?

उत्तर —मिथ्यात्व से भिन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि जो भाव हैं, वे धर्म कहलाते हैं। जब यह जीव इस धर्म को धारण करता है तभी मोक्ष सुख को पाता है, ऐसा विचार करना धर्म अनुप्रेक्षा है।

प्रश्न १६ —मुनिधर्म को सुनने की प्रेरणा देते हुए कविवर क्या कहते हैं ?

उत्तर —मुनियों के धर्म को, उनके कर्तव्यों को सुनकर भव्यजीवों को मुनिव्रत धारण करके आत्मानुभूति करना चाहिए।

छठवीं ढाल

(हरिगीता छंद)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा ब्रह्मचर्य महाव्रतों का लक्षण

षट्काय जीव न हननतैं, सब विधि दरब-हिंसा टरी।
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।।
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं।
अठदशसहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहैं।।१।।

अर्थ—छहकाय के जीवों का घात करना 'द्रव्यहिंसा' और राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान इत्यादि भावों की उत्पत्ति 'भावहिंसा' कहलाती है। मुनिराज इन दोनों प्रकार की हिंसाओं को नहीं करते, इसलिए उनके 'अहिंसा महाव्रत' होता है। स्थूल अथवा सूक्ष्म दोनों प्रकार का झूठ भी मुनिराज कभी नहीं बोलते, इसलिए उनके 'सत्य महाव्रत' होता है।

अन्य वस्तुओं का तो पूछना ही क्या, जिस मिट्टी और जल को सर्वसाधारण जीव बिना किसी रोक-टोक (निषेध) के प्रयोग में लेते हैं, मुनि उनको भी किसी के द्वारा दिए बिना ग्रहण नहीं करते इसलिए उनके 'अचौर्य महाव्रत' होता है। शील के १८००० भेदों का सदैव पालन करते मुनि चैतन्यरूपी आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं, इसलिए उनके 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' होता है।

विशेषार्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर और त्रसकाय, ये षट्काय जीव कहलाते हैं।

नव (मन, वचन, काय × कृत, कारित, अनुमोदना=९) कोटि से हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा त्याग करना महाव्रत है।

परिग्रह त्याग महाव्रत, ईर्या और भाषा समिति स्वरूप

अन्तर चतुर्दश भेद बाहर, संग दशधा तैं टलैं।
परमाद तजि चउकर मही लखि, समिति ईर्या तै चलैं।।
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोग-हर जिनके वचन, मुख-चन्द्रतैं अमृत झरैं।।२।।

अर्थ—मुनिराज १४ प्रकार के अन्तरंग एवं १० प्रकार के बहिरंग परिग्रहों

से सदा दूर रहते हैं, इसलिए उनके 'परिग्रह त्याग महाव्रत' होता है।

सूर्योदय होने के बाद दिन में एकाग्रचित्त से चार हाथ आगे की भूमि देखकर जीव-जन्तुओं की हिंसा से बचते हुए मुनिराज मार्ग में चलते हैं अतः उनके 'ईर्या समिति' होती है।

विशेषार्थ—परिग्रह के मुख्यतः दो भेद हैं—अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। बाह्य परिग्रह दश प्रकार का है—क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन।

एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति

छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनैं घर अशन को।
लैं तप बढ़ावन हेतु नहिं तन, पोषते तजि रसन को।।
शुचि ज्ञान संजम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोक तन, मल मूत्र श्लेषम परिहरैं।।३।।

अर्थ—छ्यालीस दोषों से रहित एवं बत्तीस अन्तरायों को टालकर और रसना इन्द्रिय की लोलुपता छोड़कर (रसों का आंशिक या पूरा त्यागकर) शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखते हुए केवल तप बढ़ाने के लिए, मुनिराज उत्तम कुल वाले श्रावक के यहाँ अनुद्दिष्ट प्रासुक भोजन (आहार) को दिन में एक बार ग्रहण करते हैं, इसलिए उनके 'एषणा समिति' होती है।

शुद्धि—पवित्रता के साधन कमण्डलु, ज्ञान के साधन शास्त्र एवं संयम के साधन पिच्छिका को जीवों की विराधना (हिंसा) बचाने के लिए मुनिराज देखभाल कर रखते और उठाते हैं, इसलिए उनके 'आदान-निक्षेपण समिति' होती है।

मल-मूत्र-कफ आदि शरीर के मैलों को मुनिराज जीव रहित स्थान देख कर त्यागते (छोड़ते) हैं, अतः उनके 'व्युत्सर्ग या प्रतिष्ठापन समिति' होती है।

विशेषार्थ—दाता के आश्रित सोलह उद्गम दोष, पात्र के आश्रित सोलह उत्पादन दोष तथा आहारसंबंधी दस और भोजनक्रियासंबंधी चार-ऐसे कुल छियालीस दोष हैं।

तीन गुप्तियाँ और पंचेन्द्रिय विजय

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच, काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते।।
रस रूप गंध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय, जयन पद पावने।।४।।

अर्थ—मुनिराज जब भली प्रकार से मन, वचन और काय की क्रिया (प्रवृत्ति) को रोककर अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, तब उनकी शांत एवं अचल आकृति को देखकर उसे पत्थर समझकर उससे हिरण या अन्य चौपाये अपनी खुजली मिटाने (रगड़ कर खुजाने) लगते हैं इसलिए उनके तीनों गुप्तियाँ (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति) होती हैं।

वे अपने लिए पाँचों इन्द्रियों के २७ विषयों—५ रस, ५ वर्ण, २ गंध, ८ स्पर्श, ७ शब्द-में न तो प्रिय (शुभ) होने पर राग करते हैं और न ही अप्रिय (अशुभ) होने पर द्वेष करते हैं इसलिए पंचेन्द्रियों को वश में करने (विरक्त रहने) से वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं।

विशेषार्थ—यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति का नाम समिति है और मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति की निवृत्ति का नाम गुप्ति है। पाँच इन्द्रियों और मन के ऊपर विजय प्राप्त करना अर्थात् उन्हें वश में रखना इन्द्रियविजय कहलाता है।

छह आवश्यक और सात शेष गुण

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेव को।
नित करैं श्रुतिरति, धरैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को।।
(प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करते)
जिनके न न्हौन, न दन्त-धोवन, लेश अम्बर आवरन।
भूमाहिं पिछली रयनि में कछु, शयन एकासन करन।।५।।
(भूमाहिं विचली)

अर्थ—दिगम्बर जैन मुनि सदा (१) सामायिक करते हैं (२) स्तुति करते हैं (३) श्री जिनेन्द्र भगवान की वंदना करते हैं (४) स्वाध्याय मनोयोग से करते हैं (५) प्रतिक्रमण करते हैं (६) देह से ममत्व त्याग करके कायोत्सर्ग करते हैं—इसलिए उनके ६ आवश्यक होते हैं।

शरीर का शृँगार त्याग के कारण वे मुनिराज (१) स्नान नहीं करते (२) दातौन नहीं करते (३) रंचमात्र भी कपड़ा शरीर ढाँकने में काम नहीं लेते (४) रात के अंतिम भाग में जमीन पर एक ही करवट लेटकर थोड़ी सी नींद लेते हैं।

विशेषार्थ—जो किसी के वश में नहीं होते, उन्हें अवश कहते हैं, अर्थात् आधि (मानसिक पीड़ा) व्याधि (शारीरिक पीड़ा) आदि से ग्रस्त हो जाने पर भी, उनके एवं इन्द्रियों के वशीभूत न होकर, जो दिन और रात्रि के आवश्यक कार्य साधुओं को करने ही चाहिए, उन्हीं कार्यों को आवश्यक कहते हैं।

पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने इस पद्य को संशोधित करके मुनियों के आचार ग्रंथ के अनुसार स्पष्टीकरण किया है, जो कि दृष्टव्य है—

पण्डित दौलतराम जी और कवि बुधजन जी ने समता, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग ये छः आवश्यक (मुनियों के) कहे हैं किन्तु मूलाचार, अनगार धर्मामृत एवं अन्य सभी आचार्यप्रणीत आचारग्रंथों में सामायिक (समता), चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कहे हैं।

मूलाचार, आचारसार आदि ग्रंथों में साधुओं के २८ मूलगुणों के अन्तर्गत छह आवश्यक क्रियाओं में प्रतिक्रमण के बाद 'प्रत्याख्यान' क्रिया है न कि स्वाध्याय। प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। यावज्जीवन किसी वस्तु का त्याग अथवा प्रतिदिन आहार के बाद गुरु के पास अगले दिन आहार लेने तक आहार-भोजन का त्याग आदि प्रत्याख्यान है। इसी प्रकार-

अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों में मुनियों के लिए पिछली रात्रि में 'वैरात्रिक' स्वाध्याय का विधान है और रात्रि के अर्ध रात्रि में सोने का—निद्रा लेने का विधान है, अतः यह संशोधित पाठ आगमसम्मत है।

शेष सात गुण एवं समता

इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह, सों लगे निज ध्यान में।।
अरि मित्र महल मसान कंचन, काँच निंदन थुति करन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन, में सदा समता धरन।।६।।

अर्थ—मुनि दिन में एक बार ही अपने हाथ में लेकर खड़े-खड़े थोड़ा सा आहार लेते हैं। वे अपरिग्रही अपने केशों का अपने हाथों से लोंच करते हैं।

वे परिषह (दुःख) से नहीं डरते हैं और अपनी आत्मा में लीन रहते हैं। इस प्रकार ये २८ मूलगुण साधु पालते हैं—५. महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियजय, ६ आवश्यक=२१ मूलगुण, फिर १. न नहाना २. दाँत न धोना ३. जमीन पर सोना ४. नग्न रहना ५. एक बार भोजन करना ६. खड़े-खड़े करपात्र में आहार लेना ७. अपने बालों का लोंच करना-२१+७=२८ मूलगुण हैं।

आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त भौतिक पदार्थों से उदासीन रहने के कारण उनके लिए समस्त ऐश्वर्य तुच्छ हैं—साधु के लिए शत्रु और मित्र, महल और श्मशान, कंचन और काँच, निंदा और स्तुति, पूजन करना या तलवार से मारना-ये सब समान हैं अर्थात् मुनि हर एक अवस्था में शांत-चित्त रहा करते हैं। वे राग-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं अर्थात् वे सम-भाव धारण कर लेते हैं और आने वाली समस्त आपत्तियों और कष्टों को साम्य परिणामों से सहन कर लेते हैं।

विशेषार्थ— क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन, प्रज्ञा और अज्ञान यह बाईस प्रकार के परिषह हैं तथा रागद्वेष के अभावरूप प्रवृत्ति को समता कहते हैं।

मुनियों का तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरण चारित्र

तप तपैं द्वादश धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरैं, चहैं नहिं भव सुख कदा।।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।।७।।

अर्थ— मुनि बारह प्रकार के तप तपते हैं, दश प्रकार के धर्म को धारण करते हैं, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी तीन गुण रत्नों की रक्षा करते हैं, मुनियों के साथ या एकाकी विचरण करते हैं और सांसारिक सुखों की इच्छा भी नहीं करते, इस प्रकार मुनि के सकल-चारित्र का वर्णन हुआ। अब स्वरूपाचरण या निश्चयचारित्र को कहते हैं, जिसके उदय से अपनी आत्मा की ज्ञानादि सम्पत्ति प्रकट होती है और पर-पदार्थों की ओर झुकाव सब प्रकार से मिटता है।

विशेषार्थ— प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छह अंतरंग तप और अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छः बाह्यतप होते हैं।

स्वरूपाचरण चारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया।।
निजमाहिं निज के हेतु निजकर, आपको आपै गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ।।८।।

अर्थ— जिस प्रकार कोई व्यक्ति तीक्ष्ण छेनी से पाषाण को भेद देता (तराशता) है, ठीक उसी प्रकार जब वीतरागी मुनिराज अपने अन्तरंग में भेदविज्ञानरूपी छेनी को डालकर सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और उससे आत्मा के स्वरूप को रूप-रस-गंध और स्पर्शरूप द्रव्यकर्म से तथा राग-द्वेष आदिरूप भावकर्म से अलग कर अपनी आत्मा में, आत्मा के लिए, आत्मा के द्वारा, आत्मा को अपने-आप (स्वतः) जान लेते हैं-तब उनके लिए गुण, गुणी, ज्ञाता और ज्ञेय इनमें कुछ भी भेद (अंतर) नहीं रह जाता है। इस प्रकार अभेदपने का अलौकिक साम्राज्य उपस्थित हो जाता है और यही 'स्वरूपाचरण चारित्र' है।

विशेषार्थ— सकल संयम की साधना की चरमावस्था के पश्चात् आत्मा की जो वीतराग परिणति प्रगट होती है वह स्वरूपाचरण चारित्र है। इसी का अपर नाम निश्चयचारित्र, यथाख्यातचारित्र अथवा वीतरागचारित्र है। जैसा कि परमात्मप्रकाश में कहा गया है कि राग-द्वेषाभाव-लक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चय-चारित्रं भवति.....। रागद्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है।

आगे भी स्वरूपाचरणचारित्र को ही वीतरागचारित्र कहा है। यथा.....स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति। अर्थात् स्वरूप के आचरण रूप वीतरागचारित्र भी उसी समभावधारी के ही होता है। इसी प्रकार वृहद् द्रव्य-संग्रह एवं प्रवचनसार आदि ग्रंथों में भी कहा गया है।

स्वरूपाचरण चारित्र (निश्चयचारित्र) का वर्णन

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटे जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लसा।।९।।

अर्थ—वीतराग मुनिराज स्वरूपाचरण चारित्र के समय जब आत्मध्यान में मग्न हो जाते हैं, तब ध्यान (चिंतवन), ध्याता (ध्यान करने वाला) और ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) में कुछ भी अन्तर नहीं रहता, वचन का विकल्प भी नहीं होता। वहाँ आत्मा ही कर्म (कर्त्ता के द्वारा खास इच्छित), आत्मा ही कर्त्ता (कार्य करने वाला) और आत्मा का भाव ही क्रिया (किया जाना) होता है, अर्थात् कर्त्ता-कर्म-क्रिया ये तीनों बिल्कुल अभिन्न (एक) तथा परस्पर अविरोधी हो जाते हैं, तब सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र भी एक साथ एकरूप होकर प्रकाशमान हो जाते हैं, शुद्धोपयोग की अटल अवस्था प्रकट हो जाती है अर्थात् अभेद रत्नत्रय की उपलब्धि होती है।

भावार्थ—शुभाशुभ राग-द्वेषादि से रहित आत्मा की चारित्र—परिणति को शुद्धोपयोग कहते हैं।

स्वरूपाचरण चारित्र का लक्षण और निर्विकल्प ध्यान

परमाण नय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग-ज्ञान सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं।
चितपिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुण, करण्ड च्युत पुनि कलनितैं।।१०।।

अर्थ—उस स्वरूपाचरण चारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का प्रकाश (उदय) नहीं होता अर्थात् वे जुदा-जुदा प्रतीत नहीं होते वरन् ऐसा विचार (महसूस) होता है कि वे (मुनि) अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप (अनन्त चतुष्टय के धारी) हैं, उनमें अन्य कोई राग-द्वेषादि भाव नहीं हैं। वे स्वयं ही साध्य हैं, स्वयं ही साधक हैं-कर्म तथा उसके फल (संसार परिभ्रमण) से मुक्त (बाधा रहित) हैं। वे स्वयं को चैतन्यपिण्ड, तेजस्वी, अखण्ड तथा उत्तमोत्तम गुणों का भण्डारस्वरूप अनुभव करते हैं, जो पाप तथा कर्म से रहित है। इस प्रकार सब प्रकार के विकल्पों से रहित आत्मा में स्थिरता (निर्विकल्पता) को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।

विशेषार्थ—वस्तु के सर्वांशों को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। नय ज्ञान द्वारा बाधा रहित जाने हुए पदार्थों में प्रसंगवशात् नामादि की स्थापना करना निक्षेप है।

अलौकिक आनंद एवं अरिहंत अवस्था

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो।।
तब ही शुकलध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो।
सब लख्यो केवलज्ञान करि, भविलोक को शिवमग कह्यो।।११।।

अर्थ—इस स्वरूपाचरण चारित्र के समय मुनिराज पूर्वोक्त विचार कर जब आत्म-चिन्तवन में लीन हो जाते हैं, तब उन्हें जो वचनातीत आनन्द प्राप्त होता है, वह (आनन्द) इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और अहमिन्द्र को भी नहीं मिलता।

उस स्वरूपाचरण चारित्र के प्रकट होने पर उसके प्रभाव से शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्म (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय) रूपी जंगल को जलाकर मुनिराज नष्ट कर देते हैं जिससे उन्हें 'केवलज्ञान' की प्राप्ति हो जाती है। फलस्वरूप वे तीनों लोकों एवं तीनों कालों की सब बातों (अनन्तानन्त पदार्थों के गुण-पर्यायों) को जानकर संसार के भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, यही 'अरिहन्त' अवस्था है।

विशेषार्थ—स्वरूपाचरणचारित्र श्रेणी की अवस्था में उत्पन्न होता है जिसके उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, यही बात पण्डित जी ने लिखी है कि—

"तब ही शुकलध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि-कानन दह्यो।।

सिद्ध स्वरूप का वर्णन

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमाँहिं अष्टम भू वसैं।
वसुकर्म विनसै सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।।
संसार खार अपार पारावार, तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये।।१२।।

अर्थ—अरिहन्त अवस्था या केवलज्ञान के उदय के पश्चात् वे भव्य जीव शेष ४ अघातिया कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) की ८५ प्रकृतियों का नाशकर क्षण मात्र में अष्टम भू (मोक्ष) को पा लेते हैं। आठों कर्मों का नाश हो जाने पर उनमें सम्यक्त्वादि आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। ऐसे भव्य जीव संसाररूपी दुखदायी एवं अथाह समुद्र से उत्तीर्ण (पार) हुए और होते हैं अर्थात् जन्म-मरण की बाधा से

मुक्त हो अविनाशी 'मोक्ष सुख' को प्राप्त कर लेते हैं। ये ही निर्विकार, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्धचैतन्यस्वरूप तथा अविनाशी होकर 'सिद्ध' कहलाते हैं।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म के नाश से सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है। दर्शनावरणी के नाश से दर्शन गुण प्रकट होता है। ज्ञानावरणी के नाश से ज्ञान गुण प्रकट होता है। गोत्रकर्म के नाश से अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है। नामकर्म के नाश से सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होता है। आयुकर्म के नाश से अवगाहनत्व गुण प्रकट होता है। वेदनीयकर्म के नाश से अव्याबाधत्व गुण प्रकट होता है तथा अंतरायकर्म के नाश से वीर्यत्व गुण प्रकट होता है।

मोक्ष पर्याय की महिमा, मनुष्य पर्याय की सार्थकता एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति

निजमाँहि लोक अलोक गुण, परजाय प्रतिबिम्बित थये।
रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परणये।।
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार, तजि वर सुख लिया।।१३।।

अर्थ—उन सिद्ध भगवान की आत्मा में लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने-अपने गुणों और पर्यायों सहित एक साथ दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ के समान झलकने लगते हैं। वे जैसे मोक्ष को गये हैं, वैसे ही वहाँ रहने वाले अन्य सिद्ध जीवों के समान अनन्तानन्त काल तक रहेंगे अर्थात् अपरिमित समय व्यतीत हो जाने पर भी उनकी अखण्ड शान्ति आदि में लेशमात्र भी बाधा न पड़ेगी। जिन प्राणियों ने मनुष्य की पर्याय प्राप्तकर यह शुद्ध चैतन्यरूप भी प्राप्त किया है, वह अत्यन्त धन्य (प्रशंसा के पात्र) हैं। उन्होंने ही अनादिकाल से चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण को त्यागकर उत्तम सुख (मोक्ष) पाया है।

विशेषार्थ—आत्म स्थित केवलज्ञान में स्वच्छ निर्मल दर्पण के सदृश सम्पूर्ण-द्रव्य अपने गुण एवं पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होते हैं अन्तर केवल इतना है कि केवलज्ञान में दर्पण की तरह छाया और आकृति नहीं पड़ती है।

रत्नत्रय का फल एवं शीघ्र आत्म हित की शिक्षा

मुख्योपचार दुभेद यों, बड़भागि रत्नत्रय धरैं।
अरु धरैंगे ते शिव लहैं तिन, सुयश-जल जगमल हरैं।।
इमि जानि आलस हानि साहस, ठानि यह सिख आदरो।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निजहित करो।।१४।।

अर्थ—सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रत्नत्रय) के जो दो भेद—व्यवहार और निश्चय कहे गये हैं, उनको जो भाग्यशाली जीव धारण करते हैं और धारण करेंगे तो वे (अवश्य) मोक्ष प्राप्त करते हैं और करेंगे तथा उनका सुयशरूपी जल संसार के कर्मरूपी मैल को हरता है और हरेगा, ऐसा जानकर आलस्य को त्यागो और हिम्मत बाँधकर यह उपदेश ग्रहण करो कि जब तक रोग या बुढ़ापा इस शरीर को नहीं जकड़ता है, उसके पहले ही हम जल्दी से जल्दी आत्महित करने में लग जाएँ।

विशेषार्थ—बड़भागी का अर्थ भाग्यशाली अर्थात् पुण्यवान है। पुण्य हेय नहीं है, पुण्य की वांछा हेय है। रत्नत्रय धारण करने योग्य उत्तम शरीर आदि के साधन एवं परिणामों की निर्मलता का योग पुण्य से ही प्राप्त होता है अतः भाग्यशाली को ही मोक्ष का पात्र कहा है।

सिद्ध परमात्मा का सुकीर्तिरूपी जल भव्यात्माओं के संसाररूपी मैल को हरण करने वाला है अतः जब तक श्रेणी आरोहण नहीं कर पाते, तब तक पंचपरमेष्ठियों का गुणगान निरन्तर करना चाहिए। "यह तो शुभ राग है" ऐसा भय नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार सात तत्त्वों के चिंतन द्वारा श्रद्धा निर्मल करके जिनेन्द्र की भक्ति द्वारा शक्ति (साहस) प्राप्त कर आलस्य और प्रमाद को छोड़कर शीघ्र ही चारित्र धारण करने का पुरुषार्थ करना चाहिए क्योंकि रोग एवं वृद्धावस्था आ जाने पर पीछे कुछ भी नहीं हो सकेगा।

अन्तिम उपदेश

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।।
कहा रच्यो पर पद में न तेरो, पद यहै क्यों दुःख सहै।
अब दौल! होउ सुखी स्वपद रुचि, दाव मत चूकौ यहै।।१५।।

अर्थ—यह मोह (राग) रूपी अग्नि अनादिकाल से इस संसारी जीव को निरन्तर जला रही है, इसलिए उसे समतारूपी अमृत पीना चाहिए जिससे मोह का विनाश हो। विषय-कषायों का यह जीव अनन्तकाल से सेवन कर रहा है, अतः उनका त्याग कर आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिए। प्राणी परायी वस्तुओं में क्यों अनुरक्त है ? जबकि वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है एवं फलस्वरूप चिरकाल से दुःख सहता है। प्राणी का वास्तविक स्वरूप तो अनन्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रत्नत्रय) रूप है, उसी में उसे होना

चाहिए, तभी सच्चा सुख (मोक्ष) प्राप्त होगा।

अतः इस ग्रंथ के रचयिता कवि दौलतराम स्वयं अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हैं कि हे दौलत! तुझे अपने आत्म-स्वरूप को पहिचानना होगा। यह मनुष्य भव, उत्तम श्रावक कुल आदि का सुयोग बारम्बार नहीं मिलता, इसलिए इस सुअवसर को व्यर्थ ही नष्ट नहीं हो जाने देना है प्रत्युत् संसार के प्रति आसक्ति (मोह) का त्यागकर भव-भ्रमण से मुक्ति हेतु एकाग्रचित्त होकर प्रयत्न करना है, यही करना जीवात्मा का वास्तविक लक्ष्य भी है।

विशेषार्थ—जैसे राग की दाह प्राणियों को जलाती है अर्थात् दुःख देती है वैसे ही मोह, राग एवं द्वेष संसारी जीवों को अनादिकाल से निरन्तर जला रहे हैं इसलिए ये आग से भी भयंकर हैं।

ग्रन्थ निर्माण का समय, आधार, लघुता एवं फल

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज सुकल बैसाख।
कर्‌यो तत्त्व उपदेश यह, लखि 'बुधजन' की भाख।।१।।
लघु-धी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावौ भव-कूल।।२।।

अर्थ—पं. दौलतराम जी ने अपने पूर्ववर्ती पं. बुधजन जी कृत 'छहढाला' के आधार पर यह तत्त्वोपदेश विक्रम संवत् १८९१ की मिती वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) को पूर्ण किया। पण्डित जी कहते हैं कि अल्पबुद्धि तथा प्रमाद के कारण कहीं शब्द या अर्थ की भूल रह गई हो, तो विद्वत्जन उसे सुधार करके पढ़ें, जिससे वे इस संसार से पार होने में समर्थ हो सकें।

विशेषार्थ—जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकने वाली ढाल होती है, उसी प्रकार जीव को अहितकारी शत्रु—मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों को तथा अज्ञानाधिकार को रोकने के लिए ढाल के समान इसमें छह प्रकरण हैं, जो छह प्रकार के छंदों में लिखे गये हैं इसलिए इस ग्रंथ का नाम छहढाला रखा गया है।

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न १ —मुनियों के कितने मूलगुण होते हैं ?
उत्तर —मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं-पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक और सात शेष गुण।

प्रश्न २ —महाव्रत किसे कहते हैं, उसके कितने भेद हैं ?
उत्तर —हिंसा आदि पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग करना महाव्रत कहलाता है, उसके पाँच भेद हैं-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

प्रश्न ३ —अहिंसा और सत्य महाव्रत का स्वरूप बताइए ?
उत्तर —छह प्रकार के जीवों का घात नहीं करने रूप द्रव्यहिंसा एवं काम, क्रोधादिरूप भावहिंसा का पूर्ण त्याग होने को अहिंसा महाव्रत कहते हैं तथा किंचित् मात्र भी झूठ नहीं बोलना सत्य महाव्रत है।

प्रश्न ४ —अचौर्य महाव्रत का क्या लक्षण है ?
उत्तर —पानी और मिट्टी के सिवाय किसी योग्य वस्तु को भी बिना दिए नहीं ग्रहण करना अचौर्य महाव्रत है।

प्रश्न ५ —ब्रह्मचर्य महाव्रत किसे कहते हैं ?
उत्तर —स्त्रीमात्र का त्याग करके अठारह हजार शील के भेदों को धारण कर हमेशा अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन रहना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

प्रश्न ६ —अपरिग्रह महाव्रत का लक्षण बताइए ?
उत्तर —चौदह प्रकार के अंतरंग और दस प्रकार के बाह्य परिग्रह से सर्वथा विरक्त होना अपरिग्रह महाव्रत है।

प्रश्न ७ —चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह के नाम बताइए ?
उत्तर —१. मिथ्यात्व २. क्रोध ३. मान ४. माया ५. लोभ ६. हास्य ७. रति ८. अरति ९. शोक १०. भय ११. जुगुप्सा १२. स्त्रीवेद १३. पुरुषवेद १४. नपुंसकवेद।

प्रश्न ८ —दस प्रकार का बाह्य परिग्रह कौन-कौन सा है ?
उत्तर —१. क्षेत्र २. वास्तु (मकान) ३. हिरण्य (चाँदी) ४. स्वर्ण ५. धन (पशु) ६. धान्य ७. दासी ८. दास ९. कुप्य १०. भांड (बर्तन)

प्रश्न ९ —समिति किसे कहते हैं ?
उत्तर —यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं।

प्रश्न १० —समिति के कितने भेद हैं ?
उत्तर —पाँच भेद हैं—१. ईर्यासमिति २. भाषासमिति ३. एषणासमिति ४. आदाननिक्षेपण ५. व्युत्सर्गसमिति

प्रश्न ११ —ईर्यासमिति एवं भाषासमिति का स्वरूप बताइए ?
उत्तर —प्रमादरहित होकर चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्या समिति है तथा आगम के अनुसार हित-मित-प्रिय वचन बोलने को भाषा समिति कहते हैं।

प्रश्न १२ — एषणा समिति का लक्षण बताइए ?

उत्तर — छ्यालीस दोषों को एवं बत्तीस अन्तरायों को टालकर उत्तम श्रावक के घर पर तप की वृद्धि हेतु, शरीर की पुष्टि एवं जीभ के स्वाद की चाह से रहित होकर रसों का त्याग करके आहार लेना एषणासमिति है। (छ्यालीस दोष एवं बत्तीस अन्तराय के नाम मूलाचार ग्रंथ में देखें)।

प्रश्न १३ — आदाननिक्षेपण और व्युत्सर्ग समिति की परिभाषा बताइए ?

उत्तर — शुद्धि, ज्ञान और संयम के उपकरण (कमण्डलु-शास्त्र और पिच्छी) को देखकर उठाना तथा देखकर रखना आदान-निक्षेपणसमिति है एवं जीव-जन्तु रहित स्थान को देखकर शरीर के मल-मूत्र आदि को छोड़ना व्युत्सर्ग समिति है।

प्रश्न १४ — गुप्ति किसे कहते हैं, उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर — मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को भलीप्रकार रोकना गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं — मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

प्रश्न १५ — तीनों गुप्तियों का पृथक्-पृथक् स्वरूप बताइए ?

उत्तर — मन को वश में करना मनोगुप्ति, वचन को वश में करना वचनगुप्ति तथा काय को वश में करना कायगुप्ति है।

प्रश्न १६ — मुनिराज की शांत मुद्रा को देखकर मृगगण क्या करते हैं ?

उत्तर — अपनी आत्मा का ध्यान करते हुए उन मुनियों की स्थिर मुद्रा को देखकर हिरणोंका समूह उन्हें पत्थर समझकर उनके ऊपर अपने शरीर की खाज खुजाता रहता है।

प्रश्न १७ — आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर — अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहते हैं।

प्रश्न १८ — मुनियों के छह आवश्यक कौन-कौन से हैं ?

उत्तर — १. समता २. स्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. स्वाध्याय ६. कायोत्सर्ग। मूलाचार के अनुसार स्वाध्याय के स्थान पर प्रत्याख्यान नाम का आवश्यक है।

प्रश्न १९ — सामायिक किसे कहते हैं ?

उत्तर — प्रिय और अप्रिय वस्तु में राग और द्वेष को त्याग करके त्रिकाल में देववन्दना करने को सामायिक कहते हैं अर्थात् साम्यभाव का नाम ही सामायिक है।

प्रश्न २० — स्तव किसे कहते हैं ?

उत्तर — ऋषभ आदि २४ तीर्थंकरों का भक्तिपूर्वक स्तवन करना स्तव है।

प्रश्न २१ — वंदना का क्या लक्षण है ?

उत्तर — अर्हंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमाओं को, जिनवाणी को और गुरुओं को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

प्रश्न २२ — प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप है तथा उनके भेद कितने हैं ?

उत्तर — अहिंसादि व्रतों में जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा-गर्हापूर्वक शोधन करना-दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और औत्तमार्थिक ये सात भेद हैं।

प्रश्न २३ — स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर — राग-द्वेष रहित दिगम्बर आचार्यों के द्वारा रचित अहिंसामय धर्म और मोक्षमार्ग के उपदेशक तथा राग-द्वेष, मोह, विषय-कषायों को दुःखदायक, छोड़ने योग्य बताने वाले शास्त्रों का अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं।

प्रश्न २४ — प्रत्याख्यान का क्या लक्षण है ?

उत्तर — मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनंतर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है, वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

"अतीतकाल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमान काल में द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यन है। यही इन दोनों में अंतर है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। किन्तु प्रतिक्रमण दोषों के निराकरण हेतु ही है।"

प्रश्न २५ — कायोत्सर्ग का स्वरूप बताइए ?

उत्तर — दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय-शरीर का उत्सर्ग-त्याग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

प्रश्न २६ — मुनियों के शेष सात गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर — १. स्नान नहीं करना २. दातौन नहीं करना ३. नग्न रहना ४. भूमि पर शयन करना ५. दिन में ही एक बार आहार लेना ६. खड़े-खड़े हाथ में आहार लेना ७. केशलोंच करना।

प्रश्न २७ — परीषह किसे कहते हैं, इसके कितने भेद होते हैं ?

उत्तर — शारीरिक और मानसिक पीड़ा के कारण भूख-प्यास वगैरह की वेदना को परीषह कहते हैं। परीषह २२ होते हैं — १. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंश मशक ६. नाग्न्य ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषद्या

११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण स्पर्श १८. मल १९. सत्कार पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान २२. अदर्शन।

प्रश्न २८—तप किसे कहते हैं ?

उत्तर —इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं।

प्रश्न २९—तप के कितने भेद हैं ?

उत्तर —बारह भेद हैं—छह अन्तरंग तप एवं छह बाह्य तप।

छह अन्तरंग तप—१. प्रायश्चित्त २. विनय ३. वैयावृत्य ४. स्वाध्याय ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान।

छह बाह्य तप—१. अनशन २. अवमौदर्य ३. वृत्ति परिसंख्यान ४. रस परित्याग ५. विविक्त शय्यासन ६. कायक्लेश

प्रश्न ३०—धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर —जो जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष के उत्तम सुख में पहुँचाता है, वह धर्म कहलाता है।

प्रश्न ३१—धर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर —दस भेद हैं—१. उत्तम क्षमा २. उत्तम मार्दव ३. उत्तम आर्जव ४. उत्तम सत्य ५. उत्तम शौच ६. उत्तम संयम ७. उत्तम तप ८. उत्तम त्याग ९. उत्तम आकिंचन्य १०. उत्तम ब्रह्मचर्य।

प्रश्न ३२—रत्नत्रय किसे कहते हैं ?

उत्तर —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं।

प्रश्न ३३—मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर —जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियविजय, छह आवश्यक एवं सात शेष गुण, इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करते हैं, वे मुनि कहलाते हैं।

प्रश्न ३४—एकल विहारी मुनि कौन हो सकते हैं ?

उत्तर —जो तप, एकत्व भाव, संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि हैं, वे ही जिनकल्पी मुनि एकल विहारी हो सकते हैं।

प्रश्न ३५—कौन मुनि एकल विहारी न होवे ?

उत्तर —गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना इन कार्यों में जो स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला है और बोलने में भी स्वच्छन्द रुचि वाला है, ऐसा मुनि एकल विहारी न होवे।

प्रश्न ३६—क्या पंचम काल में कोई भी मुनि एकल विहारी हो सकता है ?

उत्तर —पंचम काल में किसी भी मुनि को एकल विहारी नहीं होना चाहिए, ऐसा

आचार्यों ने कहा है क्योंकि एकल विहारी होने से स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति होने लगती है, जिससे गुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आते हैं।

प्रश्न ३७—संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर —सम्यक् प्रकार से यम अर्थात् नियम का पालन करना संयम कहलाता है।**अथवा** प्राणियों व इन्द्रियों के विषयों में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं।

प्रश्न ३८—संयम के कितने भेद हैं ?

उत्तर —संयम के दो भेद हैं—१. प्राणी संयम २. इन्द्रिय संयम।

प्रश्न ३९—स्वरूपाचरण चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर —मुनियों का आत्मस्वरूप में लीन होना स्वरूपाचरण चारित्र है। **अथवा** शुद्धात्मानुभव से अविनाभावी दिगम्बर मुनियों के चारित्र विशेष को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।

प्रश्न ४०—स्वरूपाचरण चारित्र किनके होता है ?

उत्तर —आत्मस्वरूप में लीन रहने वाले मुनियों के ही स्वरूपाचरण चारित्र होता है।

प्रश्न ४१—स्वरूपाचरण चारित्र का फल क्या है ?

उत्तर —स्वरूपाचरण चारित्र के होते ही अपनी आत्मा की ज्ञानादि सम्पत्ति प्रकट हो जाती है और पर वस्तुओं से सर्व प्रकार की प्रवृत्ति हट जाती है।

प्रश्न ४२—स्वरूपाचरण चारित्र के समय आत्मा किस अवस्था को प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर —स्वरूपाचरण चारित्र के समय मुनिराज भेदविज्ञानरूपी बहुत तेज छैनी से अन्तरंग का पर्दा तोड़ देते हैं। रूपादि बीस गुणों से और रागादि भावों से आत्मभाव को जुदा कर लेते हैं। अपने आत्महित के लिए अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को स्वयं ही जान लेते हैं। उस समय उनके गुण-गुणी, ध्यान-ध्याता-ध्येय में कुछ भी भेद नहीं रह जाता है, सब विकल्प मिट जाते हैं।

प्रश्न ४३—सुबुद्धि रूपी छैनी किसे कहते हैं ?

उत्तर —भेद-विज्ञान को सुबुद्धि रूपी छैनी कहते हैं।

प्रश्न ४४—गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर —जो वस्तु से अभिन्न रहते हैं या जिससे वस्तु की पहचान होती है उन्हें गुण कहते हैं।

प्रश्न ४५—गुणी किसे कहते हैं ?

उत्तर —जिसमें गुण पाये जाते हैं, उसे गुणी कहते हैं।

प्रश्न ४६ — ज्ञाता किसे कहते हैं ?

उत्तर — जानने वाली आत्मा को ज्ञाता कहते हैं।

प्रश्न ४७ — ज्ञेय किसे कहते हैं ?

उत्तर — जो ज्ञान का विषय है, उसे ज्ञेय कहते हैं।

प्रश्न ४८ — ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर — अपने चित्त की वृत्ति को सब ओर से रोककर एक ही विषय में लगाना ध्यान है।

प्रश्न ४९ — ध्याता किसे कहते हैं ?

उत्तर — ध्यान करने वाले को ध्याता कहते हैं।

प्रश्न ५० — ध्येय किसे कहते हैं ?

उत्तर — जिसका ध्यान किया जाता है, वह ध्येय है।

प्रश्न ५१ — ध्यान के कितने भेद हैं ?

उत्तर — ध्यान के चार भेद हैं — १. आर्त्तध्यान २. रौद्रध्यान ३. धर्मध्यान ४. शुक्लध्यान।

प्रश्न ५२ — आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर — दुःख में होने वाले ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं।

प्रश्न ५३ — आर्त्तध्यान के कितने भेद हैं ?

उत्तर — आर्त्तध्यान के चार भेद हैं — १. अनिष्ट संयोग २. इष्ट वियोग ३. वेदना ४. निदान।

प्रश्न ५४ — रौद्र ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर — क्रूर परिणामों के होते हुए जो ध्यान होता है, उसे रौद्र ध्यान कहते हैं।

प्रश्न ५५ — रौद्र ध्यान के कितने भेद हैं ?

उत्तर — रौद्र ध्यान के चार भेद हैं — १. हिंसानंद २. मृषानंद ३. स्तेयानन्द ४. विषय संरक्षणानन्द (परिग्रहानन्द)।

प्रश्न ५६ — धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर — धर्मयुक्त ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।

प्रश्न ५७ — धर्मध्यान के कितने भेद हैं ?

उत्तर — धर्मध्यान के चार भेद हैं — १. आज्ञा विचय २. अपाय विचय ३. विपाक विचय ४. संस्थान विचय।

प्रश्न ५८ — शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर — कषायरूपी मल का क्षय अथवा उपशम होने से वह शुक्लध्यान होता है

इसलिए आत्मा के शुचि गुण के संबंध से इसे शुक्लध्यान कहते हैं। **अथवा** रागादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान को आगम भाषा में शुक्लध्यान कहा है।

प्रश्न ५९ — शुक्लध्यान के कितने भेद हैं ?

उत्तर — शुक्लध्यान के चार भेद हैं — १. पृथक्त्व वितर्क २. एकत्व वितर्क ३. सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ४. व्युपरतक्रिया निवृत्ति

प्रश्न ६० — ध्यान का फल क्या है ?

उत्तर — आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों संसार के कारण हैं तथा धर्मध्यान परम्परा से मोक्ष का कारण और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है।

प्रश्न ६१ — विकल्प किसे कहते हैं ?

उत्तर — ऊहापोह या मन में अनेकों प्रकार की आकांक्षाओं की उत्पत्ति होने को विकल्प कहते हैं।

प्रश्न ६२ — उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर — जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं। **अथवा** चेतना की परिणति विशेष का नाम उपयोग है ।

प्रश्न ६३ — उपयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर — उपयोग के तीन भेद हैं — १. अशुभोपयोग २. शुभोपयोग ३. शुद्धोपयोग।

प्रश्न ६४ — स्वरूपाचरण चारित्र के समय आत्मा कैसा दिखता है ?

उत्तर — स्वरूपाचरण चारित्र के समय प्रमाण, नय और निक्षेप का प्रकाश अनुभव में नहीं आता है। आत्मा अनन्त चतुष्टयरूप दिखलाई देता है, उसमें कोई रागादि भाव नहीं दिखते। आत्मा ही साध्य- साधक तथा कर्मों और उसके फलों से बाधा रहित दिखने लगता है और वह चैतन्य का समूह खण्ड रहित उत्तम गुणों का पिटारा तथा पाप रहित दिखने लगता है।

प्रश्न ६५ — प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर — सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। **अथवा**
वस्तु के सर्वांशों को जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

प्रश्न ६६ — नय किसे कहते हैं ?

उत्तर — वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

प्रश्न ६७ — नय के कितने भेद हैं ?

उत्तर — नय के दो भेद हैं — १. द्रव्यार्थिक नय २. पर्यायार्थिक नय।

प्रश्न ६८ — निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर —प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुए लोक व्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

प्रश्न ६९ —निक्षेप के कितने भेद हैं ?

उत्तर —निक्षेप के चार भेद हैं—१. नाम निक्षेप २. स्थापना निक्षेप ३. द्रव्य निक्षेप ४. भाव निक्षेप।

प्रश्न ७० —अनन्त चतुष्टय कौन से हैं ?

उत्तर —अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय हैं।

प्रश्न ७१ —साध्य किसे कहते हैं ?

उत्तर —रत्नत्रय की एकता साध्य है।

प्रश्न ७२ —साधक किसे कहते हैं ?

उत्तर —शुद्धात्मा की साधना करने वाला जीव साधक है।

प्रश्न ७३ —स्वरूपाचरण चारित्र किस गुणस्थान में होता है ?

उत्तर —स्वरूपाचरण चारित्र सप्तम गुणस्थान से होता है तथा पूर्णता की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान में होता है।

प्रश्न ७४ —क्या चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र हो सकता है ?

उत्तर —चतुर्थ गुणस्थान में यूँ तो चारित्र ही नहीं होता है इसीलिए उस गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है फिर भी उसके सदाचरण की अपेक्षा रयणसार ग्रंथ में सम्यक्त्वाचरण चारित्र कह दिया है किन्तु उनके चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र तो कह ही नहीं सकते हैं।

प्रश्न ७५ —स्वरूपाचरण चारित्र का फल क्या है ?

उत्तर —उपयोग की स्थिरता से निजानन्द का पान करने वाले मुनिराज स्वरूपाचरण चारित्र में शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा चारों घातिया कर्मरूपी सघन वन को जलाकर केवलज्ञानरूपी विशिष्ट फल को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न ७६ —केवलज्ञान प्राप्त होने पर वे मुनिराज क्या करते हैं ?

उत्तर —केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोकों के अनन्तानन्त पदार्थों के गुण और पर्यायों को जानते हैं तथा संसार के भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं।

प्रश्न ७७ —घातिया कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर —जो कर्म जीव के ज्ञानादिक गुणों को घातें, उन्हें घातिया कर्म कहते हैं।

प्रश्न ७८ —घातिया कर्म कितने हैं ?

उत्तर —घातिया कर्म चार हैं—१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. मोहनीय ४. अन्तराय।

प्रश्न ७९ —अरिहन्त किन्हें कहते हैं ?

उत्तर —चार घातिया कर्मों से रहित मोक्षमार्ग प्रदर्शक केवली भगवान को अरिहन्त भगवान कहते हैं।

प्रश्न ८० —कर्मों को नष्ट करते ही जीव ऊर्ध्व गमन ही क्यों करता है ?

उत्तर —कर्मों को नष्ट करते ही जीव निम्न कारणों से ऊर्ध्वगमन करता है—

१. पूर्व संस्कार से
२. संग—परिग्रह का पूर्ण अभाव होने से
३. बंध के छेद होने से
४. जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण

प्रश्न ८१ —मुक्त जीव का जब ऊर्ध्वगमन स्वभाव है तब फिर वे सिद्धलोक से आगे क्यों नहीं जाते हैं ?

उत्तर —सिद्धलोक के आगे गमन में सहकारी कारण धर्मास्तिकाय अथवा धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण मुक्त जीव सिद्धलोक से आगे नहीं जा सकते हैं।

प्रश्न ८२ —सिद्धों के ज्ञान की क्या विशेषता है ?

उत्तर —सिद्ध भगवान की आत्मा में लोक-अलोक के अनन्तानन्त पदार्थ अनन्तगुण और पर्यायों सहित एक साथ झलकने लगते हैं।

प्रश्न ८३ —मोक्ष में सिद्ध भगवान कब तक रहते हैं ?

उत्तर —सिद्ध भगवान जिस निर्मल अवस्था से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वैसे ही अनन्तानन्त काल तक मोक्ष में रहते हैं और वे पुनः लौटकर संसार में कभी भी नहीं आते हैं।

प्रश्न ८४ —मनुष्य पर्याय की सार्थकता किसमें है ?

उत्तर —जिन जीवों ने मनुष्य जन्म पाकर मुनिपद की प्राप्तिरूप कार्य किया है वे जीव धन्य हैं और इसी में उनकी मनुष्य पर्याय की सार्थकता है। अथवा जब तक मुनि नहीं बन सकते हैं तब तक अणुव्रत आदि ग्रहण करके अपनी मनुष्य पर्याय को सार्थक करना चाहिए।

प्रश्न ८५ —संसार का नाश कौन कर सकता है ?

उत्तर —जो मानव जीवन पाकर मुनिव्रत धारण करते हैं, वही पंच परावर्तनरूप संसार का नाश करते हैं। मुनिपद धारण किए बिना संसार का नाश और मोक्ष की प्राप्ति न कभी किसी को हुई है और न कभी हो सकती है।

प्रश्न ८६ —रत्नत्रय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर —रत्नत्रय दो प्रकार का होता है—१. निश्चय रत्नत्रय २. व्यवहार रत्नत्रय।

प्रश्न ८७—संसार में महाभाग्यशाली कौन हैं ?

उत्तर —जो निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते हैं और आगे करेंगे, वे जीव इस संसार में महाभाग्यशाली हैं।

प्रश्न ८८—रत्नत्रय धारण करने का फल क्या है ?

उत्तर —रत्नत्रय धारण करने वालों का सुकीर्तिरूपी जल संसाररूपी मैल को नष्ट करता है तथा वे रत्नत्रय के धारण करने से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न ८९—संसार में आत्महित कब तक कर लेना चाहिए ?

उत्तर —रत्नत्रय ही मोक्ष का यथार्थ कारण है इस प्रकार जानकर आलस्य को छोड़कर साहसपूर्वक इस शिक्षा को ग्रहण करो कि जब तक रोग और वृद्धावस्था ने नहीं घेरा है तब तक जल्दी से अपना हित कर लेना चाहिए।

प्रश्न ९०—राग किसे कहते हैं ?

उत्तर —इष्ट पदार्थों में प्रीतिरूप परिणाम को राग कहते हैं।

प्रश्न ९१—राग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर —राग दो प्रकार का होता है—१. प्रशस्तराग (शुभराग) २. अप्रशस्तराग (अशुभराग)

प्रश्न ९२—प्रशस्त राग किसे कहते हैं ?

उत्तर —देव, शास्त्र, गुरु के प्रति भक्तिरूप परिणाम एवं दान, पूजा, व्रतादि अनुष्ठानरूप परिणाम को प्रशस्त राग कहते हैं।

प्रश्न ९३—अप्रशस्त राग किसे कहते हैं ?

उत्तर —पाँचों इन्द्रियों की विषयभूत इष्ट सामग्री में प्रीतिरूप परिणाम को अप्रशस्त राग कहते हैं।

प्रश्न ९४—प्रशस्त, अप्रशस्त राग के करने से क्या होता है ?

उत्तर —प्रशस्त राग पुण्य बंध का कारण है एवं परम्परा से मोक्ष का कारण है, किन्तु अप्रशस्त राग पाप बंध का ही कारण है।

प्रश्न ९५—राग को आग के समान क्यों कहा है ?

उत्तर —शुद्धोपयोग की साधना करने वाले वीतरागी मुनियों के लिए ही राग को आग के समान कहा है। जैसे-अग्नि ईंधन को जलाती है वैसे ही यह राग आत्मा को दु:खी बनाता है किन्तु शुद्धोपयोग की साधना के अभाव में श्रावकों का प्रशस्त राग आग के समान नहीं कहा है, उन्हें तो अप्रशस्त राग से बचने के लिए प्रशस्त रागरूप प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर कहा है।

प्रश्न ९६—रागरूपी आग को शान्त करने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर —यह रागरूपी आग जीव को अनादिकाल से हमेशा जला रही है इसलिए इसे शान्त करने के लिए समतारूपी अमृत का सेवन करना चाहिए।

प्रश्न ९७—इस जीव ने अनादिकाल से क्या किया है ?

उत्तर —इस जीव ने अनादिकाल से विषय-कषायों का सेवन किया है।

प्रश्न ९८—अब हमें क्या करना चाहिए ?

उत्तर —अब हमें विषय-कषायों का त्याग करके आत्मस्वरूप को पहिचानना या प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्न ९९ —पं. दौलतराम जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए क्या कहते हैं ?

उत्तर —पं. दौलतराम जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू पर-पदार्थों में क्यों लुभा रहा है ? वह तेरा कर्तव्य नहीं है। तू दु:ख क्यों सहता है ? अब तो आत्मपद में मन लगा और इस अवसर को हाथ से मत खोने दो।

प्रश्न १००—छहढाला ग्रंथ की रचना कब हुई ?

उत्तर —विक्रम संवत् १८९१ वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) को छहढाला ग्रंथ की रचना हुई थी।

प्रश्न १०१—पं. दौलतराम जी ने छहढाला ग्रंथ की रचना किस ग्रंथ के आधार से की थी ?

उत्तर —पं. दौलतराम जी ने छहढाला ग्रंथ की रचना प्राचीन विद्वान् बुधजन दास जी कृत छहढाला के आधार से की थी।

प्रश्न १०२—इस ग्रंथ के अन्त में पं. दौलतराम जी क्या कहते हैं ?

उत्तर —पं. दौलतराम जी कहते हैं कि बुद्धि की मंदता व प्रमाद से इस छहढाला ग्रंथ में कहीं शब्द या अर्थ की भूल रह गई हो तो बुद्धिमान इसे सुधार कर पढ़ें जिससे संसार से पार होने में समर्थ हो सकें।

प्रश्न १०३—छहढाला नाम के अभी तक वर्तमान में कितने ग्रंथ उपलब्ध हैं ?

उत्तर —छहढाला नाम के अभी तक तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं—१. पं. द्यानतराय कृत छहढाला, २. पं. बुधजन दास कृत छहढाला और ३. पं. दौलतराम जी कृत छहढाला।

इनमें से यही दौलतराम कृत छहढाला सर्वाधिक प्रसिद्धि को प्राप्त है, जिसे प्राय: सभी जैन पाठशालाओं में पढ़ाया जाता है।